संस्कृत-गद्य-वीथी

स्नातकपरीक्षार्थिनां कृते प्रतिनिधिगद्यसंग्रहः
भूमिकाव्याख्यादिभिः संवलितः

प्रणेता

(स्वर्गीय) पण्डित चन्द्रशेखर पाण्डेय

एम० ए०, शास्त्री

भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, सनातन धर्म कॉलिज, कानपुर

तथा

डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास

एम० ए०, पी-एच० डी०

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', नई दिल्ली

ओरिएण्टल बुक-डिपो

१७०४, नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक
ओरिएण्टल बुक-डिपो,
१७०४, नई सड़क
दिल्ली

प्रथम संस्करण १९५८
द्वितीय संस्करण १९६०
तृतीय संस्करण १९६३
मूल्य
२ रुपये ७५ नये पैसे

मुद्रक
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स,
सीताराम बाज़ार,
दिल्ली-६

निवेदन

संस्कृत की पुनः प्रतिष्ठा के इस युग में समय की यह माँग है कि अधिकाधिक छात्रों को उसके अध्ययन की ओर आकृष्ट करने के लिए उसका एक सरल, रोचक और वैविध्यपूर्ण रूप उपस्थित किया जाए। प्रस्तुत संग्रह में यही दृष्टि रखकर वैदिक युग से आधुनिक युग तक के कतिपय प्रतिनिधि-गद्यकारों की चुनी हुई श्रेष्ठ रचनाओं का संकलन किया गया है। हमारे विश्वविद्यालयों की बी०ए० कक्षा का संस्कृत-छात्र जहाँ 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' की-सी बालोपयोगी संस्कृत के स्तर से ऊपर उठा हुआ होता है वहाँ वह दीर्घकाय या आयासजनक गद्य-ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए भी पर्याप्त साहस और अवकाश नहीं बटोर पाता। वह तो संस्कृत-गद्य-सोपान के मध्य तक पहुँचा हुआ एक तरुण पथिक है, जिसे अनतिसरल और अनति-क्लिष्ट रचनाओं का पाथेय प्रदान करके ही रसास्वादन कराया जा सकता है। प्रस्तुत गद्य-वीथी में उसे वैदिक, औपनिषदिक, शास्त्रीय, दार्शनिक, काव्यात्मक सभी प्रकार के गद्यों में चञ्चु-प्रवेश का अवसर मिलेगा और इन गद्यांशों के मूल रस-स्रोतों में अवगाहन करने की प्रेरणा प्राप्त होगी। उद्बोधक स्तुति, सरस संवाद, सोद्देश्य आख्यान, उदात्त उपदेश, रसप्रवण कथा, भाषा-विषयक ऊहापोह, कारुणिक प्रसंग, प्राकृतिक वर्णन, दार्शनिक विवेचन, मार्मिक व्यंग्य आदि नानाविध स्थल पाठक के मस्तिष्क, हृदय और आत्मा को पर्याप्त आन्दोलित करेंगे। प्रत्येक गद्यांश के चुनाव में इस बात का ध्यान रखा गया है कि वह किसी-न-किसी रूप में संस्कृत के सांस्कृतिक गौरव को, उसके शिल्प-सौंदर्य को, उसकी शब्द-सम्पत्ति को, उसकी ऊर्जस्विता को, उसकी भाव-गरिमा को प्रकट करे और अध्येता पर एक सात्त्विक प्रभाव छोड़ जाए।

'संस्कृत-गद्य-मञ्जरी' के नाम से हमारा एक संग्रह सन् १९४५ में

प्रकाशित हुआ था जो इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि उसके पाँच संस्करण प्रकाशित हुए और जो अद्यावधि आगरा, राजपूताना, विक्रम-प्रभृति विश्व-विद्यालयों में पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत रहा। किन्तु बहुत पुराना हो जाने के कारण उसकी नवीनता और रोचकता प्राय: समाप्त हो चली थी तथा, साथ ही, उसका मुद्रण भी दोषपूर्ण था। इस कारण अध्यापन-कार्य में संलग्न कई आदरणीय मित्रों एवं हितैषियों ने हमें एक ऐसा नवीन परिवर्धित एवं सुमुद्रित सङ्कलन तैयार करने का सुझाव दिया, जिसमें अधिक प्रतिनिधि-रचनाओं का समावेश हो। प्रस्तुत संग्रह इसी दिशा में किया गया एक विनम्र प्रयास है। पहले के संग्रह की तुलना में इसको यथासम्भव अधिक रोचक और विविधतायुक्त बनाने की चेष्टा की गई है। मुद्रण में भी सुधार किया गया है। संस्कृत-गद्य के विकास का नये सिरे से विवेचन किया गया है और उसकी धारा को आधुनिक काल तक लाया गया है। छात्रों के स्वाध्याय के लिए व्याख्या को पर्याप्त विस्तृत और विशद करने का प्रयत्न किया गया है। समस्त गद्याचार्यों से सम्बन्धित प्रशस्तियाँ तथा उनके गद्यांशों की चुनी हुई सूक्तियाँ अन्त में एकत्र की गई हैं। आशा है, इस रूप में यह गद्य-वीथी हमारे पूर्व संग्रह की अपेक्षा अधिक उपादेय सिद्ध होगी। फिर भी कोई प्रयास सर्वथा त्रुटि-रहित नहीं होता, अतः हम कृतज्ञ होंगे पठन-पाठन में लगे उन छात्रों और प्राध्यापकों के, जो इस पुस्तक को व्यवहार में लाकर इसकी छुटी-छिपी त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे, जिससे आगामी संस्करण में उनका परिहार किया जा सके।

इस सङ्कलन के प्रणयन में हमें अनेक अनुभवी विद्वानों के परामर्श का लाभ मिला है। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, एम० ए०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ, ने पाण्डुलिपि के कुछ अंश पढ़कर कतिपय परिवर्तन सुझाए। पण्डित सत्यनारायण पाण्डेय, एम० ए०, वर्तमान अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, सनातनधर्म कालेज, कानपुर, ने भी अपने परामर्श से हमें लाभान्वित किया। गद्यांशों के चुनाव, सम्पादन, स्पष्टीकरण आदि में हमें अपने व्युत्पन्न मित्र प्रो० लाजपतराय, एम०ए०, दिल्ली, से प्रचुर सहायता

मिली है। प्रो० रामेश्वर गौरीशंकर ओझा, एम० ए०, अजमेर; प्रो० विश्वनाथ गौड़ एम०ए०, शास्त्री, कानपुर, प्रो० शिवराज शास्त्री, एम०ए०, मेरठ, श्री द्वारिकाप्रसाद नैथानी, शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, दिल्ली आदि ने भी विभिन्न रूपों में हमें सहयोग दिया है। इन सबके प्रति हम अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। साथ ही, उन टीकाकारों, लेखकों एवं अन्यान्य संग्रहकर्ताओं के भी हम ऋणी हैं, जिनकी कृतियों से हमें सहायता मिली है अथवा बहुमूल्य संकेत प्राप्त हुए हैं।

नई दिल्ली,
गणतन्त्र-दिवस, १९५८

प्रणेता

अनुक्रमः

संस्कृत-गद्य का विकास

भारतीयों की प्राचीन भाषा के दो सुस्पष्ट वर्ग पहचाने जा सकते हैं—एक वैदिक, दूसरा संस्कृत। वैदिक भाषा वैदिक साहित्य में—संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और सूत्रों में—प्रयुक्त हुई है तथा संस्कृत समस्त परवर्ती साहित्य में। वैदिक साहित्य में भाषा उत्तरोत्तर विकसित होती दिखाई देती है, पर पाँचवीं शताब्दी ईस्वी-पूर्व में पाणिनि ने सदा के लिए उसे 'संस्कृत' बना दिया, अर्थात् व्याकरण के नियमों से उसका 'संस्कार'—परिष्कार एवं संशोधन—कर दिया, और तब से संस्कृत, इन ढाई हजार वर्षों में, पाणिनि के नियमों द्वारा ही बराबर नियन्त्रित रही है, उनके प्रतिकूल बोलना-लिखना अशुद्ध माना जाता है। इसके अतिरिक्त, वैदिक साहित्य जहाँ प्रारम्भ में पद्यात्मक और बाद में गद्यात्मक हो जाता है, वहाँ संस्कृत-साहित्य अधिकांश पद्यात्मक है। यहाँ तक कि ज्योतिष, गणित, व्यवहार (कानून), आयुर्वेद-जैसे शास्त्रीय विषयों में भी संस्कृत साहित्यकारों ने पद्य का ही आश्रय लिया, चाहे इससे स्पष्टता का भली-भाँति निर्वाह न हुआ हो। गद्य का प्रयोग व्याकरण-ग्रन्थों, कथाओं, आख्यायिकाओं तथा आंशिक रूप में नाटकों में हुआ है।

संस्कृत-साहित्य के विपुल विस्तार को देखते हुए उसमें गद्य का भाग बहुत कम है। लेखकों और जनता दोनों का रुझान पद्य की ओर ही अधिक रहा है। कण्ठस्थ करने में सुगम होने के कारण पद्य के प्रति यह पक्षपात स्वाभाविक था, विशेषकर उस युग में जबकि अध्ययन-अध्यापन मुख्यतः मौखिक था। 'रामायण', 'महाभारत' तथा विशाल पुराण-साहित्य प्रायः सर्वांश में पद्य ही में रचे गए। पर शीघ्र ही गद्य ने, अपने व्याव-

हासिक महत्त्व के कारण साहित्य में प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर लिया और उसे कवियों की सच्ची कसौटी माना जाने लगा—गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति ।[1]

वैदिक गद्य

वैदिक गद्य का 'ऋग्वेद' जितना प्राचीन नमूना हम आज नहीं मिलता। पर जर्मन विद्वान् ओल्डेनबर्ग का अनुमान है कि 'ऋग्वेद' के संवादात्मक सूक्तों में, बीच-बीच में, गद्य की कड़ियाँ रही होंगी, जो समय के प्रवाह में लुप्त हो गईं। प्राचीन गद्य 'यजुर्वेद' में दृष्टिगोचर होता है। 'यजुर्वेद' के 'शुक्ल' और 'कृष्ण' दोनों सम्प्रदायों में गद्य प्रयुक्त हुआ है, किन्तु 'शुक्ल' की अपेक्षा 'कृष्ण' में गद्य की गरिमा अधिक लक्षित होती है। 'कृष्ण-यजुर्वेद' का गद्यांश ब्राह्मणों की शैली में 'शुक्ल-यजुर्वेद' का व्याख्यात्मक रूप है। 'यजुर्वेद' की गद्य-स्तुतियों को 'यजूंषि' की संज्ञा दी जाती है। इन स्तुतियों का गद्य कहीं-कहीं अनुप्रासमय और कवित्वपूर्ण भी है।[2] 'अथर्ववेद' के १५वें और १६वें काण्डों में भी गद्यांश पाए जाते हैं। वैदिक संहिताओं का यह गद्य मुख्यतः यज्ञ-सम्बन्धी, आर्ष[3] तथा स्वरयुक्त[4] है।

१ अर्थात् 'गद्य को कवियों की कसौटी कहते हैं।' यह सुप्रसिद्ध वाक्य 'काव्यालंकारसूत्र' १।३।२१ पर वामन द्वारा अपनी 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में उद्धृत है।

२ 'यजुर्वेद' की एक सुप्रसिद्ध गद्य-स्तुति देखिए—'पश्येम शरद शतम्, जीवेम शरद शतम्, शृणुयाम शरद शतम्, प्रब्रवाम शरद शतम्, अदीना स्याम शरद शतम्' (शु० यजु० ३६।२४)।

३ प्राचीन साहित्य के जो व्याकरण प्रयोग पाणिनि के नियमों से मेल नहीं खाते, उन्हें आर्ष कहा जाता है।

४ वैदिक भाषा में—गद्य में भी—स्वरों का प्रयोग किया जाता है, लौकिक में नहीं।

ब्राह्मण

ब्राह्मण-ग्रन्थों में आकर गद्य आर्यों के याज्ञिक क्रिया-कलापों का समर्थ माध्यम बन गया—उसका प्रभाव और प्रयोग बढ़ता गया। वैदिक साहित्य में ब्रह्म[1] शब्द यज्ञ के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, अतः यज्ञ से सम्बन्ध रखने के कारण ये ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहलाते हैं। सभी ब्राह्मण पूर्णतः गद्य में रचित हैं। कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विवेचना करना ही इनका मुख्य उद्देश्य है। यज्ञों के अनुष्ठान की विधियों के साथ-साथ इनमें वैदिक मन्त्रों की पौराणिक एवं धार्मिक व्याख्याएँ भी दी गई हैं। इनमें गद्य का प्रयोग भाषा-विषयक ऊहा-पोह करने तथा परम्परागत आख्यानों का वर्णन करने में किया गया है। स्वभावतः यह गद्य कर्मकाण्ड की छाया से आक्रान्त है। वाक्य-विन्यास और शब्दावली भी बहुत-कुछ आर्ष है। ब्राह्मणों के गद्य को भी स्वर-सहित पढ़ने का विधान है। उनकी शैली सरल और शक्तिशाली है, पर शब्द-बहुल और अपरिष्कृत भी। प्रमुख ब्राह्मणों में उल्लेखनीय 'ऐतरेय-ब्राह्मण', 'कौषीतकी ब्राह्मण', 'तैत्तिरीय ब्राह्मण', 'ताण्ड्य ब्राह्मण', 'गोपथ ब्राह्मण', 'शतपथ ब्राह्मण'[2] आदि हैं।

ब्राह्मणों के पिछले भाग में आरण्यक आते हैं, जिनमें कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञानकाण्ड को प्रधानता दी गई है तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। ये भी गद्य में विरचित हैं। इनकी भाषा लौकिक संस्कृत के निकट है।

उपनिषद्

उपनिषद् भी वेदों के ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आते हैं। उनके सबसे प्राचीन वर्ग में 'बृहदारण्यक', 'छान्दोग्य', 'तैत्तिरीय', 'ऐतरेय' और 'कौषी-

---

१. ब्रह्म वै यज्ञः। ऐतरेय ब्राह्मण ७।२२

२. 'शतपथ ब्राह्मण' का एक सुविख्यात गद्य-मन्त्र देखिए—'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय' (१४।३।१।३०)।

नवीं' गिने जाते हैं। इन्हें बुद्ध-पूर्व अर्थात् ६०० ई० पू० से पहले का माना जाता है। ये सब गद्य में हैं और इनकी शैली ब्राह्मणों की भाँति अपरिष्कृत है। दूसरे वर्ग में 'ईश', 'केन', 'कठ', 'श्वेताश्वतर', 'मुण्डक' और 'महानारायण' आते हैं, जो कि सब पद्यमय हैं। 'केन', जिसका कुछ अंश गद्यमय है और कुछ पद्यमय, इन दोनों वर्गों के बीच का है। तीसरे वर्ग के 'प्रश्न', 'मैत्रायणीय' और 'माण्डूक्य' उपनिषदों की भाषा फिर गद्यमय हो गई है, पर पहले वर्ग के उपनिषदों-जैसी अपरिष्कृत नहीं है और प्राचीन लौकिक संस्कृत से अधिक मिलती-जुलती है। चौथे वर्ग में परकालीन अथर्ववेदीय उपनिषदों की गणना है, जिनमें से कुछ गद्य में हैं और कुछ पद्य में।

उपनिषदों का गद्य स्वस्थ, प्रसन्न (प्रसाद-गुण-युक्त[1]), निराडम्बर और कुतूहल से भरा होने के कारण अतीव आकर्षक है। जहाँ वैदिक गद्य, यज्ञ-याग की काष्ठमयी प्रक्रिया के विस्तार के कारण नीरस है, वहाँ औपनिषदिक गद्य स्वच्छन्द और स्वाभाविक है—उसमें आख्यात रूपों (क्रियापदों) की प्रचुरता है, पदों की रुचिकर पुनरुक्ति है और लम्बे-लम्बे समासों का प्राय अभाव है।

सूत्र

वैदिक काल में ही गद्यधारा ने एक अनूठी सूत्र-शैली का आविष्कार किया, जो एक साथ लघुतम संक्षेप एवं विपुल विस्तार का आश्चर्यजनक उदाहरण है। श्रौत तथा गृह्य सूत्रों में इस गद्य-शैली का प्रयोग आरम्भ हो गया और शीघ्र ही यह लोकप्रिय बन गई। इसी शैली में वेदाङ्गों की

---

१ अलङ्कार शास्त्र के अनुसार 'प्रसाद' की परिभाषा यह है—
चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः । (साहित्य-दर्पण)

रचना की गई। संक्षेपीकरण के लिए सूत्रों में एक नया आश्रय ढूँढ़ लिया गया—दीर्घकाय समास, जो बाद में लौकिक संस्कृत गद्य का एक सामान्य लक्षण बन गया। यास्क (७०० ई० पू०) का 'निरुक्त' सूत्र-शैली में रचित है। पाणिनि (५०० ई० पू०) ने भी अपना 'अष्टाध्यायी' को सूत्रों में गूँथा है।[1] सूत्रों की प्रक्रिया का उत्कृष्ट रूप यही है और इसी को हमारे छहों दर्शनकारों ने तथा पाणिनि के बहुत बाद आने वाले वैयाकरणों ने अपनाया है। सूत्रों की संक्षिप्तता के कारण उन्हें टीका की सहायता के बिना समझना असम्भव-प्राय है। उदाहरणार्थ पाणिनि के एक सूत्र को देखिए, जिसमें केवल पाँच अक्षर हैं—इकोऽयणचि—पर जिसके अर्थ में यह विपुल भाव भरा है कि 'यदि किसी शब्द के अन्त में इक् प्रत्याहार (इ, उ, ऋ, और लृ) हों और उसके बाद में आनेवाले शब्द के आरम्भ में कोई भी स्वर हो तो इक् के स्थान पर यण् (य, व, र, और ल) क्रमशः हो जायँगे'।

संस्कृत गद्य—तीन प्रकार

लौकिक संस्कृत-काल में गद्य प्रायः तीन रूपों में प्रयुक्त हुआ है—पौराणिक, शास्त्रीय और साहित्यिक। पौराणिक गद्य में वैदिक काल के बचे-खुचे आर्ष-प्रयोग रह गए हैं। इस प्रकार का गद्य कहीं-कहीं 'महाभारत',

१ पाणिनि के सूत्रों को श्रौत तथा गृह्यसूत्रों से मिलाने पर एक मौलिक भेद प्रत्यक्ष दीख पड़ेगा, वह यह कि जहाँ पाणिनि ने अनुवृत्ति, अधिकार आदि उपकरणों का सहारा लेकर संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश एवं अधिकार-रूप षड्विध सूत्रों की रचना करके बाकी सब कुछ गण आदि को सौंप दिया है, वहाँ श्रौत और गृह्यसूत्र-कारों को अनुवृत्ति, अधिकार आदि की प्रक्रियाएँ अज्ञात हैं। यह एक बड़ा भेद है, जो इस कोटि के सूत्रों के गद्य को पाणिनि-कोटि के सूत्रों के गद्य से पृथक् करता है। (डा० सूर्यकान्त—'पाणिनि और पतञ्जलि का गद्य-साहित्य', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', १२ जून, १९५५)।

'श्रीमद्भागवत' तथा 'विष्णुपुराण'[1] में मिलता है। यह गद्य वैदिक गद्य और संस्कृत गद्य को मिलाने का काम करता है। शास्त्रीय गद्य में शाब्दिक सौन्दर्य कम रहता है, जबकि साहित्यिक गद्य में काव्य का-सा आनन्द आता है।

शास्त्रीय गद्य

शास्त्रीय गद्य-शैली का प्राचीनतम उदाहरण तीसरी शताब्दी ई० पू० में रचित पतञ्जलि का 'महाभाष्य' है, जिसमें पाणिनि के सूत्रों पर तथा कात्यायन (४०० ई० पू०) के वार्तिकों पर विस्तृत व्याख्यात्मक विवेचन है। 'पतञ्जलि के अनुसार व्याकरण भाषा को घड़ता नहीं, अपितु शिष्टों में प्रचलित भाषा का विवरण करता है। शिष्टों के इसी परिष्कृत गद्य में पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' की रचना की है। फलतः उनका गद्य अत्यन्त प्राञ्जल, प्रसन्न एवं अभिव्यञ्जनाशील सम्पन्न हुआ है। उनके वाक्य छोटे-छोटे, मोती-जैसे विशद एवं सारगर्भ हैं। उनके क्रिया-पदों की उठ-बैठ देखते ही बनती है और उनके नामिक देश की प्रचलित भाषा से चुने गये हैं। अपने गद्य में पतञ्जलि ने न तो अवाञ्छनीय संक्षेप का पल्ला पकड़ा है और न वर्ण-मधुर समासों को ही अपनाने का प्रयत्न किया है। उसमें उन्होंने कृत्रिमता का परिहार करके सरलता और मनोज्ञता का अभूतपूर्व समन्वय किया है।'[2] इसमें व्याकरण-जैसा दुरूह शास्त्र भी रोचक और हृदयग्राही बन गया है।

शास्त्रीय गद्य का उदाहरण दर्शन-ग्रन्थों में भी मिलता है। षड्दर्शनों

---

१ विष्णुपुराण के गद्य का एक नमूना देखिए—'यथैव व्योम्नि वह्निपिण्डोपमं त्वामहमपश्यं तथैवाद्याग्रतो गतमप्यत्र भगवता किञ्चिन्न प्रसादीकृतं विशेषमुपलक्षयामीत्युक्ते भगवता सूर्येण निजकण्ठादुन्मुच्य स्यमन्तकं नाम महामणिवरमवतार्य एकान्ते न्यस्तम्' (४।१३।१४)।

२ डा० सूर्यकान्त—वही।

पर रचित भाष्यों में जिस दार्शनिक गद्य के दर्शन होते हैं, वह निर्मल एवं गहन-गम्भीर है। मीमांसासूत्रों पर शबरस्वामी का भाष्य,[1] न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन का भाष्य तथा वेदान्तसूत्रों पर शङ्कराचार्य का भाष्य दार्शनिक गद्य के विशिष्ट उदाहरण हैं। शङ्कराचार्य के भाष्यों में प्रयुक्त प्रसन्न-गम्भीर गद्य इस नाते आदर्श है। उनके वाक्य सारगर्भित, प्रौढ़ और प्राञ्जल हैं तथा शैली विवेचनात्मक एवं तर्कप्रवण है। बाद के दर्शन-ग्रन्थों में, उदाहरणस्वरूप नव्य-न्याय की कृतियों में, इस तर्क-प्रधान शैली की इतनी अति कर दी गई कि लेखक का अभिप्राय ही तर्क-वितर्कों के जटिल जाल में उलझ कर रह गया।

किन्हीं-किन्हीं शास्त्रीय ग्रन्थों में गद्य-पद्यमयी शैली का भी आश्रय लिया गया।[2] इनमें मुख्य विषय का विवेचन तो गद्य में किया जाता है तथा दृष्टान्त या समर्थन के तौर पर अथवा सारांश-रूप में पद्यों का प्रयोग कर दिया जाता है। यह शैली चिकित्सा-शास्त्र और अलङ्कार-शास्त्र के कतिपय ग्रन्थों में तथा कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में प्रयुक्त हुई है। पर लेखकों को शीघ्र ही अनुभव हो गया कि नपे-तुले शब्दों में तथ्य-विवेचन के लिए गद्य-शैली हानिकारक है। अतः व्यवहार (कानून) की व्याख्याओं में तथा साहित्य-शास्त्र की रचना में लेखकों ने गद्य को ही अधिक अपनाया। इन वैज्ञानिक ग्रन्थों का गद्य सूत्र-शैली से प्रभावित है। उसमें पारिभाषिक

---

१. शबरस्वामी की शैली का एक उदाहरण—'इच्छयात्मानमुपलभामहे। कथमिति ? उपलब्धपूर्वे ह्यभिप्रेते भवतीच्छा। यथा मेरुमुत्तरेण यान्यस्मज्जातीयैरनुपलब्धपूर्वाणि स्वादूनि वृक्ष-फलानि न तानि प्रत्यस्मार्कमिच्छा भवति' (१।१।५)।

२. जिन साहित्यिक ग्रन्थों में ऐसी मिश्र शैली प्रयुक्त हुई है, वे 'चम्पू' कहलाते हैं—'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते'—साहित्यदर्पण। 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' में भी यही शैली व्यवहृत है, पर ये ग्रंथ भिन्न कोटि में आते हैं।

शब्दों की प्रचुरता तथा दीर्घ समासों की बहुलता दीख पड़ती है।

साहित्यिक गद्य

संस्कृत के साहित्यिक गद्य अथवा गद्य-काव्य के प्रारम्भिक ग्रन्थ आज लुप्त हो गए हैं। इस कोटि के गद्य का सर्वप्रथम दर्शन हमें दण्डी, सुबन्धु और बाण की कृतियों में होता है, वह भी अपने परिपुष्ट रूप में। उनके पूर्वाचार्यों के बारे में हम नहीं के बराबर जानकारी है, पर इतना तो निर्विवाद है कि इन गद्याचार्यों से बहुत पहले ही इस प्रकार की काव्य-प्रधान गद्य-शैली का शताब्दियों तक अभ्यास किया जाता रहा होगा। कात्यायन ने आख्यायिकाओं का बहुवचन में उल्लेख किया है।[1] पतञ्जलि ने आख्यायिकाओं के उदाहरण में 'वासवदत्ता'[2], 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' का नाम-निर्देश किया है।[3] भोज ने अपने 'शृङ्गारप्रकाश' में 'मनोवती' और 'सातकर्णीहरण' नामक रचनाओं की ओर संकेत किया है, जो ईस्वी-सन् के प्रारम्भ में लिखी गई होंगी। दण्डी ने भी 'मनोवती' की प्रशंसा की है।[4] हाल (७८ ईस्वी) के राजकवि श्रीपालित ने 'तरङ्गवती' कथा लिखी।[5] रामिल-सोमिल ने 'शूद्रक-कथा' की रचना की।[6] 'हर्षचरित' में बाण ने

१ 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्', आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च'—वार्तिक।

२ यह 'वासवदत्ता' सुबन्धु की 'वासवदत्ता' से भिन्न है।

३ 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे इत्यत्र लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलं लुग्वक्तव्यः। वासवदत्ता सुमनोत्तरा न च भवति भैमरथी।' महाभाष्य ४।३।८७

४ 'धवलप्रभया राग सा तनोति मनोवती।' अवन्तिसुन्दरीकथा

५ 'हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः'—अभिनन्द-कृत रामचरित, 'पुण्या पुनाति गङ्गेव गां तरङ्गवती कथा'—धनपाल-कृत तिलकमञ्जरी।

६ तौ शूद्रककथाकारौ वन्द्यौ रामिलसोमिलौ।
काव्यं ययोर्द्वयोरासीदर्धनारीश्वरोपमम्॥ —जल्हण

भट्टार हरिचन्द्र के मनोहारी गद्य की प्रशंसा की है।[1] यद्यपि इन कृतियों और लेखकों के बारे में हमारी विशेष जानकारी नहीं है, तथापि इन नामोल्लेखों से इतना तो प्रमाणित हो ही जाता है कि दण्डी, सुबन्धु और बाण से लगभग १,००० वर्ष पहले से गद्य-काव्यों का सृजन किया जाता रहा। हो सकता है, ये गद्य-काव्य, अन्य उत्कृष्टतर गद्य-काव्यों की रचना हो जाने के कारण, बाद में जनता द्वारा भुला दिए गए हों।

प्रशस्तियाँ

सरलता के बाद अलङ्करण का युग आया करता है और पतञ्जलि के बाद भी ऐसा ही हुआ। अब संस्कृत गद्य-लेखकों की रुचि अलङ्कार-प्रयोग द्वारा भाषा के आडम्बर की ओर अधिक जाने लगी। यों तो अलङ्कारों का प्रयोग वैदिक वाङ्मय में भी जगह-जगह मिलता है, पर उनके विधान में खोज और प्रयास की गन्ध नहीं है; वे तो परिन्दों की नाईं मन्त्र-द्रष्टाओं की प्रतिभा के मघ से अनायास ही उतरे हैं। पर पतञ्जलि के गद्य के बाद खिलाड़ियों की आँख अलङ्कारों की खोज में रहने लगी, जिसका फल हमें १५० ई० में लिखे गए महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनारवाले शिलालेख में मिलता है।[2] इसके गद्य में दीर्घ समास, अनुप्रास तथा अन्य अलङ्कार प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। इसमें ऐसे गद्य और पद्य का उल्लेख हुआ है, जो 'अलंकृत, कवि-समयों का अनुसरण करने के कारण उदात्त तथा स्पष्ट, लघु, मधुर, आकर्षक और रमणीय

---

१. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥ हर्षचरित

२. इसका एक नमूना देखिए—'प्रमाणमानोन्मानस्वरगतिवर्णसारसत्त्वादिभिः परमलक्षणव्यञ्जनैरुपेतकान्तमूर्तिना स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयंवरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना सेतु सुदर्शनतरं कारितम्।'

शब्दों से निर्मित है (स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालङ्कृतगद्यपद्य)। इस प्रकार की रचना का प्रौढ रूप ३५० ई० के लगभग हरिषेण द्वारा रचित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में मिलता है, जो प्रयाग के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है।[1] इसमें चन्द्रगुप्त प्रथम की राज्य-विश्रान्ति और समुद्रगुप्त के राज्यारोहण का सुन्दर एवं चमत्कृत वर्णन है। इसमें एक सुदीर्घ, समासबहुल, द्युतिहारी गद्य-काव्य की मनोज्ञ छटा मिल जाती है। इस प्रशस्ति में श्लेष का भी एक प्रयोग मिलता है, जो आगे चलकर गद्य-काव्यकारों का अत्यन्त प्रिय बन गया। हरिषेण का यह गद्य-गुच्छ स्पष्ट रूप से शब्दाडम्बर-बहुल रचना-शैली का राजदूत है, जिसका परिपाक सुबन्धु और बाण की कृतियों में उपलब्ध होता है।

पतञ्जलि के गद्य में और इन प्रशस्तियों के गद्य में आकाश-पाताल का अन्तर है। कह सकते हैं कि इस अन्तर का कारण दोनों के विषय का मौलिक भेद है, किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ पतञ्जलि के गद्य में आख्यात अभीष्ट संख्या में उपलब्ध होते हैं, वहाँ प्रशस्तियों के गद्य में वे प्रायः चल बसे हैं और उनका स्थान नामिक शैली ने अपना लिया है।[2] विभक्तियाँ ढूँढे ही मिलती हैं, अब उनका काम लम्बे-लम्बे समास देने लगे हैं। देवता-द्वन्द्व और बहुव्रीहि तो ऋग्वेद में भी मिलते और प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, किन्तु देवता-द्वन्द्वों के रूप में और दो शब्दों के बहुव्रीहि के रूप में। इसके विपरीत प्रशस्तियों में

१ इसका एक वाक्यांश देखिए—'सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः।'

२ इसका अर्थ यह है कि प्राचीन संस्कृत में धातुओं के तिङन्त-रूप बहुत पाए जाते थे, पर क्रमशः उनका प्रयोग घटता गया और उनकी जगह कृदन्त-रूप प्रयुक्त होने लगे, जैसे 'अद्राक्षीत्', 'जगाम' आदि के स्थान पर 'दृष्टवान्', 'गतः' आदि लिखे जाने लगे।

गद्य में दस-दस शब्दों को एक ही द्वन्द्व में टाँग दिया जाता है और बहुव्रीहि समास में तो मनमाने शब्द-व्रीहि भर दिए जाते हैं।'[1]

कथा और आख्यायिका

दण्डी, सुबन्धु और बाण से बहुत पहले भी गद्य-काव्यों का अनुशीलन किया जाता था। इसका एक और प्रमाण यह है कि उनसे पूर्व ही कथा और आख्यायिका के नाम से गद्य-काव्य का भेद किया जाने लगा था, जिनके विशिष्ट लक्षण निर्धारित हो चुके थे और कथाकारों से इनका पालन करने की अपेक्षा की जाती थी। आख्यायिका में ऐतिहासिक आधार होना चाहिए, पर कथा कल्पना-प्रसूत होता है,[2] जैसा कि 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' के उदाहरण से ज्ञात होता है।

किन्तु गद्य-काव्यों के इन दोनों वर्गों के विषय में, दण्डी और बाण के समय में, कई मतभेद उठ खड़े हुए थे।[3] दण्डी के अनुसार[4] आख्यायिका का वक्ता स्वयं नायक होता है, कथा का नायक अन्य कोई। किन्तु यह नियम सर्वत्र घटित नहीं हुआ है; फिर वक्ता-रूप में स्वयं नायक हो अथवा अन्य कोई व्यक्ति, इसमें विशेष अन्तर नहीं है, इसलिए यह भेद अवास्तविक है। कुछ विद्वानों का मत था कि आख्यायिका में वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग किया जाता है और उसमें कथांश उच्छ्वासों में बँटा रहता है। यद्यपि दण्डी ने प्रसंगवश कथा में भी इन लक्षणों का होना लिखा है और इस भेद को अस्वीकार किया है; तथापि बाण के 'हर्षचरित' में यह लक्षण अवश्य घटित होता है।

१. डा० सूर्यकान्त—वही।
२. आख्यायिकोपलब्धार्था प्रबन्धकल्पनाकथा। अमरकोश, १।५।५-६
३. देखिए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल-कृत 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० ५।
४. देखिए काव्यादर्श, १।२३-३०।

दण्डी के मत में तो कथा और आख्यायिका में केवल नाम ही का भेद है, दोनों की जाति एक है।[1] पर बाण ने 'हर्षचरित' को आख्यायिका और 'कादम्बरी' को कथा माना है। 'हर्षचरित' के आरम्भ में उन्होंने कहा है कि मैं इस आख्यायिका-रूपी समुद्र में चपलतावश जिह्वा का चप्पू चला रहा हूँ (करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्)। 'कादम्बरी' की भूमिका में बाण ने उसे 'वासवदत्ता' और 'बृहत्कथा' इन दोनों को मात कर देनेवाली (अतिद्वयी) कथा कहा है।

दण्डी

दण्डी (६०० ई०) दक्षिण भारत के निवासी थे। उन्होंने 'काव्यादर्श' नामक अलङ्कार-ग्रन्थ के अतिरिक्त दो गद्य-काव्य लिखे—'अवन्तिसुन्दरीकथा' और 'दशकुमारचरित'। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' अपूर्ण है और उसे दण्डी की ही कृति मानने में विद्वानों में ऐकमत्य भी नहीं। 'दशकुमारचरित' को भी दण्डी ने आदि-अन्त लिखे बिना ही अधूरा छोड़ दिया था। बाद में लेखकों ने उसमें पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका जोड़कर उसे समग्र रूप दिया।

'दशकुमारचरित', जिसमें दस राजकुमार के पर्यटन और दुस्साहस का हृदयग्राही वर्णन है, संस्कृत के गद्य-साहित्य में एक अनूठी रचना है। अनूठी इसलिए कि यह यथार्थवादी है, रूढ़ि-विरोधी है। दण्डी ने अपनी कृति में उस परम्परा का उल्लंघन किया है, जिसके अनुसार गद्य-काव्य में भी (जो कि काव्य का ही एक अवान्तर रूप है) किसी उदात्त विषय का प्रतिपादन होना चाहिए और उसका नायक भी शालीन, धीर एवं लोकातीत गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। 'दशकुमारचरित' के नायक इष्ट-सिद्धि के लिए उचित-अनुचित साधनों में कोई अन्तर नहीं करते। वे एक

---

१ तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥　काव्यादर्श, १।२८

ऐसे समाज में विचरण करते हैं, जहाँ मान, मद, मोह, मत्सर का बोलबाला है तथा छल, कपट, हिंसा, परस्त्री-हरण और अवैध प्रेम का नि.सकोच आश्रय लिया जाता है। पाखण्डी साधु, चतुर जादूगर, कामान्ध पुरुष, हृदयहीन वेश्याएँ, धूर्त कुट्टनियाँ और कजूस सेठ अपने अद्‌भुत व्यापारों से समस्त कृति को अतिशय सजीव और मनोरजक बना देते हैं।

अपने सजीव कथानक के अनुरूप ही दण्डी ने सजीव भाषा का व्यवहार किया है। उनका गद्य प्रासादिक, दिन-प्रतिदिन के व्यवहार के योग्य, चुस्त और प्रवाहपूर्ण है। वह न श्लेष के बोझ से दबा है, न समासों के प्रहार से प्रताड़ित है, न अलङ्कार-बाहुल्य से आक्रान्त है। सहज भावाभिव्यक्ति— अर्थ की स्पष्टता—उनके गद्य की आत्मा है। उनका पदलालित्य दर्शनीय है (दण्डिनः पदलालित्यम्); उनकी शब्द-योजना मे रस छलका पड़ता है।[1] हास्य, वाक्पटुता एवं सूझ की चटकीली उर्वरता स्थल-स्थल पर दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने अपने कथानकों को इस प्रकार क्रमबद्ध किया है कि वे सर्वथा सुसंगठित होकर खिल उठे हैं। भाषा-वैभव का प्रदर्शन उन्होंने न किया हो, ऐसी बात नही, पर साहित्यिक अलङ्करण में कहीं-कहीं फँस जाने पर भी वह दुरूह और अरुचिकर नही है। सुललित एवं सुभग गद्य लिखने में दण्डी निष्णात है और उनकी रचना, कला से चमत्कृत सामाजिक चुनौतियो के कारण एक महान्, प्रौढ और रस-पेशल रचना सम्पन्न हुई है।

सुबन्धु

गद्य-काव्यों को अलङ्कारो से बोझिल तथा अक्षराडम्बरो से चित्र-विचित्र बनाने की प्रवृत्ति, जिससे दण्डी अपने को बहुत-कुछ मुक्त रख

---

१. उदाहरणार्थ, 'अयुष्मशरः शरशयने शायिष्यति', 'असत्येनास्य नास्यं संसृज्यते', स पुण्यैः कर्मभिः प्राप्य पुरुषायुषं पुनरपुण्येन प्रजानाम-गण्यतामरेषु।'

सके, उनके बाद बढती गई। अलंकार-शास्त्रियों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि 'गद्यकाव्य का उत्कर्ष शब्द-विन्यास के सौष्ठव, वर्णन की प्रराचना, अलङ्कारों की सुभगता, दीर्घ समस्त पदों की प्रयोग-चातुरी, वाक्यों के सहित विस्तार एवं ध्वनि तथा ध्वन्य के साटोप स्वनन और अवपतन में निगूढ है।' इस कोटि के गद्य-काव्य की छटा, अपने उच्चतम उद्रेक में, सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में मिलती है।

'वासवदत्ता' में राजकुमार कन्दर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता की प्रणय-कथा वर्णित है। कथानक अत्यन्त लघु है, पर प्रकृति-वर्णन, सौन्दर्य-चित्रण तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन द्वारा उसका विपुल विस्तार किया गया है, जिससे कथा-प्रवाह में बाधा पहुँची है। 'वासवदत्ता' एक श्लेष-बहुल रचना है, उसके रचयिता का दावा है कि उसके काव्य के प्रत्येक अक्षर में श्लेष है (प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपञ्चविन्यासवैदग्ध्यनिधि प्रबन्धम्)। पौराणिक संकेतों से युक्त श्लेषों का उन्होंने एक बीहड़ जंगल खड़ा कर दिया है, जिसमें रास्ता ढूंढ पाना पाठक के लिए एक श्रमसाध्य मानसिक व्यायाम हो जाता है।[1] सम्भवतः, सुबन्धु-जैसे लेखकों के लिए ही श्री आनन्दवर्धन ने यह कहा है कि कविगण बहुधा कथावस्तु के प्रवाह और रस की अभिव्यक्ति का ध्यान नहीं रखते और अलङ्कार-कौशल दिखाने में ही निमग्न रहते हैं।[2] जहाँ दण्डी ने सरल, प्रासादिक एवं मनोरम वैदर्भी शैली को अपनाया है, वहाँ सुबन्धु ने अतिशयोक्ति, अनुप्रास और समास-प्रधान गौडी शैली को, जिसमें दीर्घ वाक्य-विन्यास, शब्दाडम्बर तथा

---

१ जैसे, 'नन्दगोप इव यशोदान्वितः, जरासन्ध इव घटितसन्धिविग्रहः', अर्थात् यशोदा से युक्त नन्दगोप के समान वह यश और दया से युक्त थे, जरा के द्वारा समटित अङ्गवाले राजा जरासन्ध के समान वह सन्धि और विग्रह के सम्पादक थे।

२ दृश्यन्ते च कवयोऽलङ्कारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रबन्धेषु। —ध्वन्यालोक।

कृत्रिमता अधिक होती है।[1] फिर भी सुबन्धु ने संवादों में तथा अन्य उपयुक्त स्थलों पर छोटे वाक्यों का भी प्रयोग किया है।[2] सुबन्धु की कृति अपने ढंग की चमत्कारपूर्ण, मँजी हुई रचना है। सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से भी वह महत्त्वपूर्ण है।

बाणभट्ट की गद्य-शैली

संस्कृत गद्य-काव्य का चरमोत्कर्ष बाणभट्ट की कृतियों में देखा जा सकता है। बाण गद्य की पाञ्चाली शैली के अनुयायी हैं, जिसमें अर्थ के अनुरूप ही शब्दों को गूँथा जाता है।[3] अपनी कृतियों में बाण ने काव्य और गद्य की शैली के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं।[4] 'इस समय लोक में राग-द्वेष से भरे हुए, वाचाल, मनमाने ढंग से कविता करनेवाले (कामकारिणः) कुकवि भरे हुए हैं; ऐसे कवि घर-घर में हैं, जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप-मात्र के वर्णन को कविता समझते हैं, किन्तु नई वस्तु का निर्माण करनेवाले कवि थोड़े ही हैं।' (असंख्या जातिभाजः, उत्पादका न बहवः कवयः)। इसमें 'जातिभाजः' पद द्वारा बाण ने उस पूर्ववर्ती शैली की ओर संकेत किया है, जिसमें स्वभावोक्ति पसन्द की जाती थी। वस्तु के यथार्थ रूप को वैसा ही कहना पहले के कवियों को इष्ट था। 'ललित-विस्तर', आर्यशूर-कृत 'जातकमाला' आदि बौद्ध संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थ

---

१. ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः। समासबहुला गौडी ...॥
—साहित्य-दर्पण।

२. उदाहरण के लिए देखिए—'रविविरहविधुरायाः कमलिन्या हृदयमिव द्विधा पपाट चक्रवाकमिथुनम्। आगमिष्यतो हिमकरदयितस्य पार्श्वे सञ्चरन्ती कुमुदिन्या भ्रमरमाला दूतीवालक्ष्यत।'

३. शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥—सरस्वतीकण्ठाभरणम्

४. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—वही, पृ० ३-५

इसी शैली में है। किन्तु धीरे-धीरे स्वभावोक्ति के प्रति लोगों की अरुचि हो गई और वक्रोक्ति पसन्द की जाने लगी। इस प्रतिक्रिया ने सुबन्धु की 'वासवदत्ता' को जन्म दिया। बाण ने लगातार श्लेषों से भरी हुई शैली की प्रशंसा की है, साथ ही सुन्दर जाति(स्वभावोक्ति)-प्रधान वर्णनों को भी ग्राह्य माना है, ऐसी उभय शैली से ग्रथित रचना की तुलना उन्होंने उस जूही की माला से की है, जिसमें चम्पक-पुष्प पिरोए गए हों—

निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव ।

बाण का कहना है कि उत्तरी भारत के लोगों में श्लेष-प्रधान शैली का रिवाज है, पश्चिमी भारत में शैली पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना अर्थ या कथावस्तु पर, दाक्षिणात्य लोगों में कल्पना की उड़ान या उत्प्रेक्षा ही काव्य का गुण है, किन्तु गौड़ों में अर्थात् प्राच्य भारत में विकट शब्द-योजना ही पसन्द की जाती है—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥

बाण ने इस प्रकार की शैलियों को एकाङ्गी माना है। उनके अनुसार विषय की नवीनता, सुरुचिपूर्ण स्वभावोक्ति सरल श्लेष, स्फुट रूप से प्रतीयमान रस तथा भारी-भरकम शब्द-योजना श्रेष्ठ गद्य-रचना के लक्षण हैं—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥

इस समन्वय-प्रधान शैली का अपनाना बाण की विशेषता है। बाण में अभिनव अर्थ की कल्पना[1], श्लेष-प्रधान शब्दों की अद्भुत योजना, दूसरे के मन के भावों का यथातथ्य चित्रण[2], वस्तुओं के यथार्थ वर्णन, समास-बहुल पद-विन्यास तथा कथा-वस्तु एवं शैली में प्रकट रूप से बहती हुई

---

१ उत्कृष्टकविगद्यमिव विविधवर्णश्रेणिप्रतिपाद्यमानाभिनवार्थसंचयम्।
२ अन्यचिन्तितस्वमनोऽभिप्रायवेदकम्। —कादम्बरी

रस-धारा--ये सभी सहज ही प्राप्त होते हैं।

बाण ने तीन प्रकार की गद्य-शैलियाँ प्रयुक्त की हैं--उत्कलिकाप्राय (दीर्घ समासवाली), चूर्णक (छोटे-छोटे समासयुक्त पदों में बिखरी हुई) तथा वृत्तगन्धि (समासरहित)।[1] राजवैभव, रमणी-विलास अथवा प्राकृतिक भव्यता के चित्रण में उत्कलिकाप्राय शैली का आश्रय लिया गया है, जिसमें दीर्घकाय समास, विपुल वाक्य, विशिष्ट एवं श्लिष्ट पदावली तथा चित्रकाव्य के सभी साधनों का प्रचुर प्रयोग दीख पड़ता है। शूद्रक, जाबालि-आश्रम, विन्ध्याटवी, महाश्वेता और कादम्बरी के वर्णन इसी शैली के उदाहरण हैं। ऐसी प्रगाढ़ शैली के बाद बाण फिर ढील छोड़ देते हैं। युवक दधीच का वर्णन शब्दाडम्बरपूर्ण उत्कलिकाप्राय शैली से आरम्भ करके अन्त में उनके पार्श्वचर के वर्णन में छोटे-छोटे समासोंवाली चूर्णक शैली में समाप्त किया गया है। जहाँ विषय मार्मिक अथवा गम्भीर होता है, वहाँ बाण वृत्तगन्धि शैली का प्रयोग करते हैं, जो बड़ी सशक्त और प्रभावोत्पादक सिद्ध होती है। इसमें वाक्य छोटे-छोटे होते हैं, दीर्घ समासों का अभाव होता है और विशेषण-पद न्यून होते हैं। बाण ने मदन-व्यथा से पीड़ित पुण्डरीक की भर्त्सना कपिञ्जल के मुख से इसी शैली में कराई है। विरह-वर्णन में, उपदेश देते समय अथवा शिष्टाचार दिखाते समय वृत्तगन्धि प्रयुक्त हुई है। इसका अच्छा उदाहरण 'शुकनासोपदेश' में पाया जाता है।

बाण ने भट्टार हरिचन्द्र के गद्य-बन्ध की प्रशंसा करके यह इंगित

---

१. अपादः पदसन्तानो गद्यं तत्तु त्रिधा स्मृतम्।
चूर्णकोत्कलिकाप्रायवृत्तगन्धिप्रभेदतः ॥
अकठोराक्षरं स्वल्पसमासं चूर्णकं विदुः।
तत्तु वैदर्भरीतिस्थं गद्यं हृद्यतरं भवेत् ॥
भवेदुत्कलिकाप्रायं समासाढ्यं दृढाक्षरम्।
वृत्तैकदेशसम्बन्धाद् वृत्तगन्धि पुनः स्मृतम् ॥ —छन्दोमञ्जरी

किया है कि वह इसकी शैली का आदर्श मानते हैं। इसमें पदों की सुन्दर रचना थी और इसकी रीति भी मनोहर थी। बाण की दृष्टि में शब्द ऐसे होने चाहिए, जो सुख-प्रबोध हों, सरलता से समझ में आ सकें और सुन्दर अक्षरों से बने हों।

हर्षचरित और कादम्बरी

'हर्षचरित' में बाण ने सम्राट् हर्ष के जीवन, उनके व्यक्तित्व तथा कतिपय समकालीन घटनाओं और पात्रों का काव्यमयी शैली में वर्णन किया है। प्रारम्भ के ढाई अध्याय में बाण ने अपने जीवन की भी कुछ झाँकियाँ दी हैं। वर्णन की आलंकारिक और कल्पना-प्रचुर शैली के कारण 'हर्षचरित' विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। फिर भी उसका ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व कम नहीं है। हर्ष के समकालीन चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णन से 'हर्षचरित' की घटनाएँ मेल खाती हैं और बाण के सूक्ष्म एवं ब्यौरेवार वर्णन से उसके यात्रा-विवरण की यथार्थता परखने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त कला, धर्म, दर्शन, राजनीति, आचार-विचार की दृष्टि से बाण ने सांस्कृतिक महत्व की बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है।

'कादम्बरी' संस्कृत-साहित्य की सर्वोत्तम कथा अथवा उपन्यास है। उसमें चन्द्रापीड और कादम्बरी की प्रणय-कथा संस्कृत भाषा के समस्त वैभव, गौरव और कौशल के साथ वर्णित है। 'दशकुमारचरित' की भाँति उसमें भी मुख्य कथा में अनेक उप-कथाएँ आ गई हैं, पर कवि ने पर्याप्त कुशलता से उनका निर्वाह और विकास किया है। विशद चरित्र-चित्रण, वर्णन प्रतिभा, भाषा-नैपुण्य तथा मानव-भावों के मार्मिक एवं सूक्ष्म अंकन में 'कादम्बरी' संस्कृत में एक बेजोड़ कृति है। उसमें बाण के बहुमुखी जीवन के विविध अनुभव साकार हो गए हैं। तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं पर भी 'कादम्बरी' से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उस युग के नगर, उद्यान, राजपथ, अन्तःपुर, हाट-बाजार, कला-कौशल, धर्म और

विश्वास 'कादम्बरी' में बाण की सौन्दर्यदर्शी दृष्टि पाकर मूर्तिमान् प्रकट हुए हैं।

बाण वर्णनात्मक शैली के धनी हैं। उनकी वाणी थकना या रुकना नहीं जानती। अपने वर्ण्य विषय को महिमा और सौन्दर्य से मण्डित करने में वह श्लेषों की झड़ी बाँध देंगे, विरोधाभास का तूमार खड़ा कर देंगे, श्लिष्ट उपमाओं, अनुप्रासों और यमकों का जाल ही लगा देंगे। इन वर्णनों से न उकताकर, उनके भीतर पैठकर, हमें रसास्वादन करना चाहिए—अकृपण कवि-प्रतिभा के औदार्य का अवलोकन करना चाहिए; और तब बाण की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, उर्वर कल्पना, प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम तथा अजस्र शब्द-राशि हमें मन्त्र-मुग्ध किए बिना न रहेगी।

परवर्ती गद्य-काव्यों पर बाण की छाप स्पष्ट दिखाई देती है।[1] उनकी शैली का अनुकरण कवि-साफल्य का मापदण्ड माना जाने लगा। १०वीं शताब्दी की धनपाल की 'तिलकमञ्जरी' तथा वादीभसिंह की

१. बाण का प्रभाव गोस्वामी तुलसीदास पर भी देखा जा सकता है। 'रामचरितमानस' में चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए उन्होंने सिंह का उपमान दिया है—

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बनचारी॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥

इसकी तुलना बाण के इस वर्णन से करने पर कितनी समानता दिखाई देती है—'शशिकेसरिविदार्यमाण तम करिकुम्भसम्भवेन मुक्ताफलधौतेनेव धवलतामुपनीयमानमुदयगिरिसिद्धसुन्दरीकुचच्युतेन चन्दनचूर्णशशिनेव पाण्डुरीक्रियमाणम्।'

तुलसीदासजी ने—

जहँ बिलोकि मृगसावक नयनी। जनु तहँ बरसि कमल सित स्रयनी॥
लिखकर जो सुन्दर उत्प्रेक्षा की है, वह बहुत पहले बाण में ढूँढ़ी जा सकती है—'अपाङ्गविक्षेपस्खलितकुवलयवनमयीमिव क्रियमाणामवनीम्।'

'गद्य चिन्तामणि' ऐसी ही रचनाएँ हैं। इसी समय के लगभग साहित्य में चम्पू-ग्रन्थों का निर्माण किया जाने लगा, जिनमें गद्य-पद्य दोनों का समान रूप से व्यवहार हुआ है।

संस्कृत गद्य-काव्यों की विशेषताएँ

आज के व्यावहारिक युग में संस्कृत के गद्य-काव्य एक विचित्र प्रकार का साहित्य उपस्थित करते हैं। आधुनिक भारतीय भाषाओं में उनके-जैसा गद्य लिखने की किसी को न कल्पना हो सकती है, न सामर्थ्य। वे तो उस प्राचीन युग की देन हैं जब प्रत्येक भद्र नागरिक से, वात्स्यायन के अनुसार, साहित्य-कला में पारंगत होने की अपेक्षा की जाती थी। अन्न, धन तथा अवकाश की बहुलता, कला और संस्कृति के प्रति अनन्य अनुराग, साहित्यकारों और कलाकारों का प्रभूत सम्मान, शिष्ट और सुशिक्षित विद्वत्-समाज—ऐसे वातावरण में निश्चिन्त होकर हमारे प्राचीन गद्याचार्यों ने, अपने समय में प्रचलित आदर्शों और रूढ़ियों के अनुसार, अपना समस्त उपार्जित ज्ञान-विज्ञान को मुक्त हस्त से सहृदयों के लिए वितरित किया था। अतः आधुनिक आलोचना के सिद्धान्तों की कसौटी पर अथवा वर्तमान युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उनकी आलोचना या समीक्षा करना असंगत होगा। अलंकृत गद्य-शैली ही उनके समय में समादृत थी। समास-बाहुल्य गद्य का प्राण ही समझा जाता था।[1] लाघव या लघुकायता संस्कृत गद्य का एक विशेष लक्षण है, अधिक-से-अधिक अर्थ को कम-से-कम शब्दों में व्यक्त करना उसका ध्येय है। अतः समासों का प्रयोग इसके लिए अनिवार्य होता है।

संस्कृत में गद्य का समावेश काव्य के अन्तर्गत ही किया गया है।[2] इस विभागीकरण से भी संस्कृत गद्य का काव्यत्व लक्षित हो जाता है।

---

१ ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।—काव्यादर्श १।८०

२ पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।—काव्यादर्श १।११

काव्य-रचना के लिए छन्दोबद्धता अनिवार्य नहीं है, इसका पुष्ट प्रमाण संस्कृत के गद्य-काव्य है। लोक-कथाओं से कथानक का बीज लेकर उन्हें पद्यकाव्यों की शैली पर ही पल्लवित किया गया है। प्रकृति का विस्तृत चित्रण, नायक-नायिका की शारीरिक और मानसिक दशा का अतिरंजित अंकन, कल्पना और पाण्डित्य का गहरा पुट तथा अलंकारों एवं पौराणिक संकेतों का प्रचुर प्रयोग—इन गद्य-काव्यों की विशेषताएँ हैं। उनमें संस्कृत भाषा अनुचरों से घिरे सम्राट् की भांति प्रस्थान करती है, और कथा पीछे-पीछे प्रच्छन्न भाव में छत्रधर की भांति आता है। यदि लोक-कथाओं के सीधे-सादे कथानक को साहित्यिक सौन्दर्य से प्रतिमण्डित देखना हो; कल्पना-वैचित्र्य, पदलालित्य, भाषा-सौष्ठव और वर्णन-वैभव का एकत्र चमत्कार देखना हो; भावग्राहिता और गाढ़बन्धता का निराला ठाठ, ओज और प्रौढत्व का उदात्त सन्निवेश एवं वैदग्ध्य और वाक्पटुता का चारु निदर्शन अनुभव करना हो तो संस्कृत गद्य-काव्यों का अनुशीलन करना चाहिए। उनकी गद्य-गरिमा के समक्ष आज की व्यावहारिक भाषा गौरवोन्नत गजराज के समक्ष चचल अरबी घोड़ी की तरह लगती है। लोक-सम्पर्क से दूर होने पर भी उस गजराज की शान और शोभा से कौन इन्कार कर सकता है!

वर्तमान युग

वर्तमान युग में भी संस्कृत गद्य का अनुशीलन अप्रचलित नहीं है। काशी के स्वर्गीय पंडित अम्बिकादत्त व्यास का 'शिवराज-विजय' प्राचीन शैली के प्रौढ़ गद्य का श्रेष्ठ नमूना है। उनकी वर्णन-चातुरी और शब्द-योजना अतिशय आकर्षक है। पंडित हृषीकेश शास्त्री भट्टाचार्य की 'प्रबन्ध-मञ्जरी' में सामयिक विषयों पर सुरुचिपूर्ण निबन्ध संगृहीत है। उन्होंने 'विद्योदय' नामक संस्कृत-पत्रिका का लाहौर से ४४ वर्ष तक सम्पादन किया था। उनकी भाषा अत्यन्त प्राञ्जल तथा प्रवाहपूर्ण है। उनकी-सी सरस व्यंग्य-शैली आधुनिक संस्कृत गद्य में बहुत कम देखी

जाती है। पण्डिता क्षमा राव को इस शताब्दी की प्रथम कोटि की संस्कृत-लेखिका एवं कवयित्री के रूप में स्मरण किया जाएगा, जिन्होंने प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाकर एवं चिर-पुराण भाषा में नवीन प्राण फूंकने की चेष्टा की। उनकी 'कथा-मुक्तावली' सरल, प्रसादिक गद्य में रचित कहानियों का संग्रह है। ये कहानियाँ रोचकता एवं घटना-वैचित्र्य की दृष्टि से आधुनिक युग के सर्वथा उपयुक्त बन पड़ी हैं।

इन्दौर के श्रीपाद शास्त्री हसूरकर ने सरल और प्रवाहपूर्ण गद्य में कई चरितात्मक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। श्रीकृष्णमाचार्य ने 'रघुवंश-विमर्श' लिखा है। नासिक के पण्डित मेधाव्रत कविरत्न ने 'शिवराजविजय' के अनुकरण पर 'कुमुदिनी-चन्द्र' नामक उपन्यास लिखा है। स्वामी भागवताचार्य तथा श्री वासुदेव शास्त्री ने महात्मा गांधी की जीवनी को संस्कृत गद्य में उतारा है। बंगलौर की श्रीमती राजम्मा के 'चन्द्रमौलि' उपन्यास में सामाजिक बुराइयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। काशी के श्री नारायण शास्त्री खिस्ते ने सरल और प्राञ्जल गद्य में 'विद्वच्चरित-पञ्चकम्' लिखा है। मद्रास के श्री व्यासराय शास्त्री ने 'कालिदास-नाट्य-कथा-मञ्जरी' के नाम से कालिदास के नाटकों की कहानी बढ़िया गद्य में लिखी है। इसी प्रकार पण्डित महालिङ्ग शास्त्री ने भास के नाटकों की कथाएँ लिखी हैं। मद्रास के एक विद्वान् ने शेक्सपियर के नाटकों की कथाओं को प्रवाहपूर्ण संस्कृत गद्य का परिधान पहनाया है। श्री हरिचरण भट्टाचार्य ने बङ्किमचन्द्र के उपन्यास 'कपालकुण्डला' का इसी नाम से संस्कृत में रूपान्तर किया है और उनके 'राजसिंह' उपन्यास का अनुवाद कोल्हापुर के श्री अप्पाशास्त्री ने किया है। श्री जगन्नाथप्रसाद के हिन्दी-उपन्यास 'संसार-चक्र' का अनुवाद श्री अनन्ताचार्य ने किया है। त्रिवेन्द्रम् के स्वर्गीय पण्डित टी० के० गणपति शास्त्री ने 'सेतुयात्रानुवर्णनम्' नामक एक यात्रा-ग्रन्थ लिखा, जो पाण्डित्यपूर्ण किन्तु सरल संस्कृत गद्य का अच्छा नमूना है। वाराणसी के डा० मंगलदेव शास्त्री ने अपने 'प्रबन्ध-प्रकाश' में वैदिक विषयों पर अच्छे प्रबन्ध लिखे हैं।

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा ने 'भारतानुवर्णनम्' नाम से भारत का एक संक्षिप्त इतिहास लिखा था। श्री हंसराज अग्रवाल तथा श्री द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री ने संस्कृत-साहित्य का इतिहास संस्कृत में लिखा है। 'भाषा' (संस्कृत-साप्ताहिक) के सम्पादक श्री सोमयाजी ने टाल्सटाय की एक पुस्तक का 'कणः लुप्तः गृहं दहति' (एक चिनगारी घर जला देती है) के नाम से अनुवाद किया है, जिसमें संस्कृत का सरलतम रूप दर्शनीय है।

संस्कृत गद्य में आज भी अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं, जिनके द्वारा काफी मौलिक रचनाएँ सामने आई हैं। साप्ताहिक पत्रों में 'भवितव्यम्' (नागपुर), 'संस्कृतम्' (अयोध्या), 'भाषा' (गुन्तूर) और 'पण्डित-पत्रिका' (काशी) के नाम उल्लेखनीय है। मासिक पत्रों में 'मञ्जूषा' (कलकत्ता), 'भारती' (जयपुर), 'संस्कृत-रत्नाकर' (दिल्ली), 'बालसंस्कृतम्' (बम्बई), 'मधुरवाणी' (गदग—कर्नाटक), 'उद्यान-पत्रिका' (तिरुवैयरु—तंजौर), 'सूर्योदय' (काशी) और 'वैदिकमनोहरा' (काञ्जीवरम्) के नाम लिए जा सकते हैं। त्रैमासिक पत्रिकाओं में 'सरस्वतीसुषमा' (वाराणसी), 'ब्रह्मविद्या' (अड्यार) तथा 'महाराज-संस्कृतपत्रिका' (मैसूर) प्रमुख हैं।

लोक-व्यवहार से दूर जा पड़े संस्कृत गद्य को लोकप्रिय बनाने में इन सब प्रकाशनों का योग बहुमूल्य माना जाएगा। वस्तुतः संस्कृत को अनुप्राणित करने के लिए आज उसके गद्य को सरल, लघु और व्यावहारिक बनाने की आवश्यकता है—रूढ़िवाद को तोड़कर उसमें ओज (सारवत्ता) और चटक, ज्ञान-विज्ञान की सजीवता और नवीनता, खेतों और खलिहानों की खुली हवा और धूप लानी होगी, उसे युग-धर्म में दीक्षित करना होगा। तभी देववाणी संस्कृत सर्वजनप्रिय बनकर अपने सौरभ का प्रसार कर सकेगी।

प्रस्तुत संग्रह

संस्कृत के गद्य-साहित्य में से उत्कृष्ट अंशों को चुनकर आज तक अनेक

संग्रह तैयार किए गए हैं। प्रस्तुत संग्रह भी इसी परम्परा का निर्वाह करता है। फिर भी यह प्रयत्न किया गया है कि ऐसे ही गद्यांश लिए जाएँ, जो वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में सार्थक एवं उपादेय सिद्ध हों। शृङ्गारिक स्थल इसमें प्रायः नहीं के बराबर मिलेंगे, फिर भी शक्तिकुमार की भावी पत्नी की पाकक्ला-प्रवीणता एवं अनवद्य सुन्दरता, शिवाजी और रोशनारा का अनुराग-सिक्त संवाद तथा कश्मीरी सुन्दरी हिमा का अदम्य साहस एवं एकनिष्ठ पति-प्रेम इस संकलन को नीरस और रूक्ष नहीं बनने देंगे। सरकारी कर्मचारियों के सम्भावित भ्रष्टाचार पर रोक लगाने का आग्रह कर कौटिल्य ने एक सामयिक प्रश्न को उठाया है। सुबन्धु ने खल-हृदय की खूबियों पर विस्तार से प्रकाश डालकर मानो गोस्वामी तुलसीदासजी की 'प्रथम बन्दि खल जन सनि भाएँ, जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ' से प्रारम्भ होनेवाली खल-वन्दना का पूर्वाभास दिया है। ग्रीष्म की प्रखरता और लू-लपटों का बाण-कृत वर्णन आज भी दृग्गोचर किया जा सकता है। शङ्कराचार्य-कृत धर्म की व्याख्या हमारे धर्म-निरपेक्ष राज्य में भी शायद ही किसी को अमान्य हो। जहाँ 'शुकनासोपदेश' में यौवन और लक्ष्मी के दुर्निवार प्रभाव को नियन्त्रित रखने की चेतावनी दी गई है, वहाँ चरक मुनि के 'सद्वृत्तम्' में एक शालीन नागरिक की आचार-संहिता उपस्थित की गई है। 'शब्दानुशासनम्' का प्रकरण एक कुशल भाषा शिल्पी की कृति है, जो व्याकरण जैसे लोहे के चने को ओदन पिण्डवत् मृदु और सुग्राह्य बना देती है। 'केनोपनिषद्' वाली तिनके की कथा, जिसमें देवता अपनी महत्ता के स्रोत ब्रह्म को भूलकर स्वयं अपने को महिमान्वित मान बैठते हैं, क्या आज के उन जन-प्रतिनिधियों पर घटित नहीं होती, जो यह भूल जाते हैं कि उनकी महिमा का स्रोत जनता-जनार्दन है? जाबालि और उनके तपःपूत आश्रम का वर्णन आज के वातावरण में भले ही विचित्र और अव्यावहारिक लगे, किन्तु नगरों की चकाचौंध से त्रस्त नागरिकों के लिए वह निस्सन्देह 'नेत्रमनःकान्तम्' है। दावानल को भी शान्त हो

जाने का आदेश देनेवाले बतख-बच्चे की वाणी मे क्या उस अहिंसक की तेजस्वी वाणी नही सुनी जा सकती, जो बड़े-से-बड़े अत्याचारी को भी सत्य-बल से पराजित कर देता है ? अपने माता-पिता से हर्ष का वियोग प्रत्येक तरुण को इस अवश्यम्भावी वज्रपात की पूर्व-सूचना देता है और 'विपदि धैर्यम्' का चिर सम्बल प्रदान करता है। नाभानेदिष्ठ का निश्छल, सच्चा व्यवहार, जो प्रतिपक्षी को भी पानी-पानी कर देता है, उस देश में आज भी समादृत है, जिसकी भित्ति 'सत्यमेव जयते' की आधार-शिला पर खड़ी है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' का दीक्षान्त-भाषण हमारे सद्यःस्नातकों को सद्गृहस्थ बनाने में सहायक होगा तथा अथर्ववेदीय ऋषि की उदात्त वाणी उन्हें आशा, उत्साह, आत्मविश्वास और आत्मोन्नति का ओजस्वी सन्देश देगी।

संस्कृत-गद्य-वीथी

१—भद्रं नो वितरन्तु देवाः

निर्दुर्रमण्यः। ऊर्जा मधुमती वाक्। मधुमतीः स्थ। मधुमतीं वाचमुदेयम्। उपहूतो मे गोपाः, उपहूतो गोपीथः।

सुश्रुतौ कर्णौ, भद्रश्रुतौ कर्णौ, भद्रं श्लोकं श्रूयासम्। सुश्रुतिश्च मा[१] उपश्रुतिश्च मा हासिष्टाम्। सौपर्णं चक्षुः, अजस्रं ज्योतिः।

मूर्धाऽहं रयीणाम्, मूर्धा समानानां भूयासम्। रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टाम्। मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टम्।

बृहस्पतिर्मे आत्मा। नृमणा नाम हृद्यः। असन्तापं मे हृदयम्, उर्वी गव्यूतिः, समुद्रोऽस्मि विधर्मणः।

नाभिरहं रयीणाम्, नाभिः समानानां भूयासम्। स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा।

मा मां प्राणो हासीत्। मूर्धो मा अह्नः पातु, अग्निः पृथिव्याः, वायुरन्तरिक्षात्, यमो मनुष्येभ्यः, सरस्वती पार्थिवेभ्यः।

स्वस्ति अद्य उपसो दोपसश्च। सर्वा आपः सर्वगणो अशीय।

—अथर्ववेद १६।२-४

---

१. जिस 'मा' के नीचे रेखा अंकित है, वह अनुदात्त स्वर है और 'माम्' के अर्थ में प्रयुक्त है।

२—सत्यमेव जयते

नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन। सोऽब्रवीदेत्य—'किं मह्यमभाक्त ?' इति।

'एतमेव निष्ठावमववदितारम्' इत्यब्रुवन्।

स पितरमेत्याब्रवीत्—'त्वां ह वाव मह्यं तताभाक्षु' इति।

तं पिताऽब्रवीत्—'मा' पुत्रक तदादृथा। अङ्गिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रमासते। ते षष्ठं षष्ठमेवाहरागत्य मुह्यन्ति। तानेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसय। तेषां यत् सहस्रं सत्रपरिवेषणं तत्ते स्वर्यन्तो दास्यन्ति' इति।

तथेति। तानुपैत्—'प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः' इति।

तमब्रुवन्—'किंकामो वदसि ?' इति।

'इदमेव वः षष्ठमहः प्रज्ञापयानि' इत्यब्रवीत्। 'अथ यद्व एतत् सहस्रं सत्रपरिवेषणं तन्मे स्वर्यन्तो दत्त' इति।

तथेति। तानेते सूक्ते षष्ठेऽहन्यशंसयत्। ततो वै ते प्र यज्ञमजानन्, प्र स्वर्गं लोकम्। तद् यदेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसति, यज्ञस्य प्रज्ञात्यै, स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै। तं स्वर्यन्तोऽब्रुवन्—'एतत्ते ब्राह्मण सहस्रम्' इति।

तदेनं समाकुर्वाणं पुरुषः कृष्णशवास्युत्तरत उपोत्थायाब्रवीत्—'मम वा इदं, मम वै वास्तुहम्' इति।

सोऽब्रवीत्—'मह्यं वा इदमदु' इति।

तमब्रवीत्—'तद्वै नौ तवैव पितरि प्रश्नः' इति।

स पितरमैत्। तं पिताऽब्रवीत्—'ननु ते पुत्रक, अदु ?' इति।

'अदुरेव मे' इत्यब्रवीत्—'तत्तु मे पुरुषः कृष्णशवास्युत्तरत उपोदतिष्ठत्—मम वा इदं मम वै वास्तुहम् इत्यादित' इति।

तं पिताऽब्रवीत्—'तस्यैव पुत्रक तत् । तत्तु स पुत्रक तुभ्य दास्यति' इति ।

स पुनरेत्याह—'तव ह वाव किल भगव, इति मे पिताऽऽह' इति ।

सोऽब्रवीत्—'तदहं तुभ्यमेव ददामि, य एवं सत्यमवादीः, इति ।

—ऐतरेयब्राह्मणम् २२।१

३—आचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति ।

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयाऽऽसनेन

प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ताः, आयुक्ताः, अलूक्षाः, धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।

—तैत्तिरीयोपनिषत् १।११

४—ब्रह्म एव महीयते

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। तद्धैषां विजज्ञौ। तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव। तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति।

तेऽग्निमब्रुवन्—जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति। तथेति। तदभ्यद्रवत्। तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति। तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमिति? अपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति। तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुम्। स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति।

अथ वायुमब्रुवन्—वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति। तदभ्यद्रवत्। तमभ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा अह-

मस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति। तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमिति ? अपीदं सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति। तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुम्। स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति।

अथेन्द्रमब्रुवन्—मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात्तिरोदधे। स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम। बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति।

सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति। ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति। तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्तेन ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति। तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श, स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।

—केनोपनिषत् ३·

५—अधिकारिवर्गेषु राज्ञो जागरूकता

अमात्यसम्पदोपेताः सर्वाध्यक्षाः शक्तितः कर्मसु नियोज्याः। कर्मसु चैषां नित्यं परीक्षां कारयेत्। चित्तानित्यत्वान्मनुष्याणाम्। अश्वसधर्माणो हि मनुष्या नियुक्ताः कर्मसु विकुर्वते। तस्मात् कर्तारं करणं देशं कालं कार्यं प्रक्षेपमुदयं चैषु विद्यात्।

ते यथासन्देशमसंहता अविगृहीताः कर्माणि कुर्युः। संहता

भक्षयेयु । विगृहीता विनाशययु । न चानिवेद्य भर्तु कञ्चिदारम्भ कुर्युरन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्य । प्रमादस्थानेषु चैषामत्यय स्थापयेद्दिवसवेतनव्ययद्विगुणम् । यश्चैषा यथादिष्टमर्थ सविशेष वा करोति स स्थानमानौ लभेत ।

य समुदय परिहापयति स राजार्थ भक्षयति । न चेदज्ञानादिभि परिहापयति तदेन यथागुण दापयेत् । य समुदय द्विगुणमुद्भावयति स जनपद भक्षयति । स चेद्राजार्थमुपनयति अल्पापराधे वारयितव्य । महति यथापराध दण्डयितव्य । य समुदय व्ययमुपनयति स पुरुषकर्माणि भक्षयति । स कर्मदिवसद्रव्यमूल्यपुरुषवेतनापहारेषु यथापराध दण्डयितव्य ।

तस्मादस्य यो यस्मिन्नधिकरणे शासनस्थ स तस्य कर्मणो याथातथ्यमायव्ययौ च व्याससमासाभ्यामाचक्षीत । मूलहर तादात्विककदर्यांश्च प्रतिषेधयेत् । य पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहर । यो यद्यदुत्पद्यते तत्तद्भक्षयति स तादात्विक । यो भृत्यात्मपीडाभ्यामुपचिनोत्यर्थं स कदर्य ।

अध्यक्षा सङ्ख्यायकलेखकरूपदर्शकनीवीग्राहकोत्तराध्यक्षसखा कर्माणि कुर्यु । उत्तराध्यक्षा हस्त्यश्वरथारोहास्तेषामन्तेवासिन शिल्पशौचयुक्ता सङ्ख्यायकादीनामपसर्पा । बहुमुख्यमनित्य चाधिकरण स्थापयेत् ।

मत्स्या यथान्त सलिले चरन्तो
ज्ञातु न शक्या सलिल पिबन्त ।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ता
ज्ञातु न शक्या धनमाददाना ॥
अपि शक्या गतिर्ज्ञातु पतता खे पतत्रिणाम् ।
न तु प्रच्छन्नभावाना युक्ताना चरता गति ॥

न भक्षयन्ति ये त्वर्थान्न्यायतो वर्धयन्ति च।
नित्याधिकाराः कार्यास्ते राज्ञः प्रियहिते रताः॥

—कौटिल्यः, अर्थशास्त्रम् २।६

६—अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्

अथ शब्दानुशासनम्।

केषां शब्दानाम् ?

लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावद्—'गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः' इति। वैदिकाः खल्वपि—'शं नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा। अग्निमीडे पुरोहितम्। अग्न आ याहि वीतये' इति।

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं सः शब्दः।

नेत्याह। द्रव्यं नाम तत्।

यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितमिति स शब्दः ?

नेत्याह। क्रिया नाम सा।

यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति स शब्दः ?

नेत्याह। गुणो नाम सः।

यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः ?

नेत्याह। आकृतिर्नाम सा।

कस्तर्हि शब्दः ?

येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा—शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः, इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः।

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि?

रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्। रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान्परिपालयिष्यतीति। ऊहः खल्वपि—न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

आगमः खल्वपि—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति। प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।

लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्।

असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति—'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत' इति। तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सेयं स्थूलपृषती। तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति—यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति।

शब्दानुशासनमिदानीं कर्तव्यम् ।

तत्कथं कर्तव्यम् ? किं शब्दोपदेशः कर्तव्यः, आहोस्विदपशब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेश इति ।

यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद्—गाव्यादयोऽपशब्दा इति । अथाप्यपशब्दोपदेशः क्रियते गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद्—गौरित्येष शब्द इति ।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

लघुत्वाच्छब्दोपदेशः । गरीयानपशब्दोपदेशः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य 'गावी', 'गोणी', 'गोता', 'गोपोतलिका' इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति ।

अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः । एवं हि श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच । नान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम । किं पुनरद्यत्वे ? यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति । चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति— आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति । तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात् । तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः ।

—पतञ्जलिः, महाभाष्यम् १।१।१

७—सत्सेवितः पन्थाः

सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामः । तद्यथा—देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत् । अग्निमुपाचरेत् । ओषधीः प्रशस्ता धारयेत् । द्वौ कालावुपस्पृशेत् । मलायनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात् । त्रिः पक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत् । नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात् ।

साधुवेशः, प्रसाधितकेशः, मूर्धश्रोत्रघ्राणपादतैलनित्यः, पूर्वाभिभाषी, सुमुखः, दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथानां नमस्कर्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिण्डदः, काले हितमितमधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः, फले नेर्ष्युः, निश्चिन्तः, निर्भीकः, धीमान्, ह्रीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता, छत्री, दण्डी, माली, सोपानत्कः, युगमात्रदृग्विचरेत् । मङ्गलाचारशीलः, कुचैलास्थिकण्टकामेध्यकेशतुषोत्करभस्मकपालस्नानबलिभूमीनां परिहर्ता । प्राक् श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात् । सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात् । क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसन्धः, सामप्रधानः, परपरुषवचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशमगुणदर्शी, रागद्वेषहेतूनां हन्ता ।

नानृतं ब्रूयात् । नान्यस्वमादद्यात् । नान्यस्त्रियमभिलषेन्नान्यश्रियम् । न वैरं रोचयेत् । न कुर्यात्पापम् । न पापेऽपि पापी स्यात् । नान्यदोषान् ब्रूयात् । नान्यरहस्यमागमयेत् । नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रद्विष्टैः सहासीत नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न दुष्टैः ।

न दुष्टयानान्यारोहेत् । नाजानुसमं कठिनमासनमध्यासीत, नानास्तीर्णमनुपहितमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत, न गिरि-विषममस्तकेष्वनुचरेत् । न द्रुममारोहेत् । न जलोग्रवेगमवगाहेत । कूलच्छायां नोपासीत । नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत् । नोच्चैर्हसेत् । न शब्दवन्तं मारुतं मुञ्चेत् । नासंवृतमुखो जृम्भां क्षवथुं हास्यं वा प्रवर्तयेत् । न नासिकां कुष्णीयात् । न दन्तान् विघट्टयेत् । न नखान् वादयेत् । नास्थीन्यभिहन्यात् । न भूमिं विलिखेत् । न छिन्द्यात्तृणम् । न लोष्टं मृद्नीयात् । न विगुणमङ्गैश्चेष्टेत । ज्योतींष्यनिष्टममेध्यमशस्तं च नाभिवीक्षेत । न हुं कुर्याच्छवम् । न चैत्यध्वजगुरुपूज्याशस्तच्छायामाक्रामेत् । न क्षपास्वमरसदनचैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानाघातनान्यासेवेत । नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत् । न पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान् भजेत । नोत्तमैर्विरुध्येत । नावरानुपासीत । न जिह्मं रोचयेत् । नानार्यमाश्रयेत । न भयमुत्पादयेत् । न साहसातिस्वप्नप्रजागरस्नानपानाशनान्यासेवेत । नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत् । न व्यालानुपसर्पेन्न दंष्ट्रिणो न विषाणिनः । पुरोवातातपावश्यायातिप्रवातान् जह्यात् । कलिं नारभेत । नासुनिभृतोऽग्निमुपासीत । नोच्छिष्टो नाधःकृत्वा प्रतापयेत् । नाविगतक्लमो नानाप्लुतवदनो न नग्न उपस्पृशेत् । न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्गम् । न केशाग्राण्यभिहन्यात् । नोपस्पृश्य त एव वाससी बिभृयात् । नास्पृष्ट्वा रत्नाज्यपूज्यमंगलसुमनसोऽभिनिष्क्रामेत् । न पूज्यमङ्गलान्यपसव्यं गच्छेन्नेतराण्यनुदक्षिणम् ।

नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरूप्य पितृभ्यो नादत्त्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नापुण्यगन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिवदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टाशुचिक्षुधित-

परिचरो न पात्रीष्वमेध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्त्वाऽग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं न कुत्सयन् न कुत्सितं न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत, न पर्युषितमन्यत्र मांसहरितकशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः । नाशेषभुक् स्यादन्यत्र दधिमधुलवणसक्तुसर्पिर्भ्यः । न नक्तं दधि भुञ्जीत । न सक्तूनेकानश्नीयात्, न निशि, न भुक्त्वा, न बहून्, न द्विः, नोदकान्तरितान्, न छित्त्वा द्विजैर्भक्षयेत् ।

नानृजुः क्षुयान्नाद्यान्न शयीत । न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात् । न वाय्वग्निसलिलसोमार्कद्विजगुरुप्रतिमुखं निष्ठीविकावातवर्चोमूत्राण्युत्सृजेत् । न पन्थानमवमूत्रयेत् । न जनवति नान्नकाले न जपहोमाध्ययनबलिमङ्गलक्रियासु श्लेष्मसिङ्घाणकं मुञ्चेत् ।

न स्त्रीर्न गुरून् परिवदेत् । नाशुचिरभिचारकर्मचैत्यपूज्यपूजाध्ययनमभिनिर्वर्तयेत् ।

न विद्युत्स्वनार्तवीषु, नाभ्युदितासु दिक्षु, नाग्निसम्प्लवे, न भूमिकम्पे, न महोत्सवे, नोल्कापाते, न महाग्रहोपगमने, न नष्टचन्द्रायां तिथौ, न सन्ध्ययोः, नामुखाद् गुरोः, नावपतितम्, नातिमात्रम्, न तान्तम्, न विस्वरम्, नातिद्रुतम्, न विलम्बितम्, नातिक्लीबम्, नात्युच्चैर्नातिनीचैः स्वरैरध्ययनमभ्यसेत् ।

नातिसमयं जह्यात् । न नियमं भिन्द्यात् । न नक्तं नादेशे चरेत् । न सन्ध्यास्वभ्यवहाराध्ययनस्त्रीस्वप्नसेवी स्यात् । न बालवृद्धलुब्धमूर्खक्लिष्टक्लीबैः सह सख्यं कुर्यात् । न मद्यद्यूतवेश्याप्रसङ्गरुचिः स्यात् । न गुह्यं विवृणुयात् । न कञ्चिदवजानीयात् । नाहमानी स्यान्नादक्षो नादक्षिणो नासूयकः । न गवां दण्डमुद्यच्छेत् । न वृद्धान्, न गुरून्, न गणान्, न नृपान् वाऽधिक्षिपेत् । न चातिब्रूयात् । न बान्धवानुरक्तकृच्छ्रद्वितीयगुह्यज्ञान् बहिः कुर्यात् ।

नाधीरो नात्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात्, नाभृतभृत्यः, नाविश्रब्ध-स्वजनः, नैकः सुखी, न दुःशीलाचारोपचारः, न सर्वविश्रम्भी, न सर्वाभिशङ्की, न सर्वकालविचारी। न कार्यकालमतिपातयेत्। नापरीक्षितमभिनिविशेत्। नेन्द्रियवशगः स्यात्। न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत्। न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात्। न चातिदीर्घसूत्री स्यात्। न क्रोधहर्षावनुविदध्यात्। न शोकमनुवसेत्। न सिद्धावौत्सुक्यं गच्छेन्नासिद्धौ दैन्यम्।

प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत्। हेतुप्रभावनिश्चितः स्यात् हेत्वा-रम्भनित्यश्च। न कृतमित्याश्वसेत्। न वीर्यं जह्यात्। नापवाद-मनुस्मरेत्।

—चरकसंहिता ॥

८—न यत्राग्निः प्रभवति

सत्यपरिभावितां वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः। तद्यथानुश्रूयते।

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्नरण्यायतने वर्तकापोतको बभूव स्म। स कतिपयरात्रोद्भिन्नाण्डकोशः प्रविरोक्ष्यमाणतरुणपक्षः

परिदुर्बलत्वादलक्ष्यमाणाङ्गप्रत्यङ्गप्रदेशः स्वमातापितृप्रयत्नरचिते तृणगहनोपगूढे गुल्मलतासंनिश्रिते नीडे सम्बहुलैर्भ्रातृभिः सार्धं प्रतिवसति स्म । तदवस्थोऽपि चापरिप्लुतधर्मसंज्ञत्वान्मातापितृभ्यामुपहृतान्प्राणिनो नेच्छति स्माभ्यवहर्तुम् । यदेव त्वस्य तृणबीजन्यग्रोधफलाद्युपजह्रतुर्मातापितरौ तेनैव वर्तयामास । तस्य तया रूक्षाल्पाहारतया न कायः पुष्टिमुपययौ । नापि पक्षौ सम्यक् प्रविरुरोहतुः । इतरे तु वर्तकापोतका यथोपनीतमाहारमभ्यवहरन्तो बलवन्तः संजातपक्षाश्च बभूवुः । धर्मता ह्येषा यदुत—

धर्माधर्मनिराशङ्कः सर्वाशी सुखमेधते ।
धर्म्यां तु वृत्तिमन्विच्छन्विचिताशीह दुःखितः ॥
ह्रीमता त्विह दुर्जीवं नित्यं शुचिगवेषिणा ।
संलीनेनाप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन जीवता ॥

तेषामेवमवस्थानां नातिदूरे महान्वनदावः प्रतिभयप्रसक्तनिनदो विजृम्भमाणधूमराशिर्विकीर्यमाणज्वालावलीलोलविस्फुलिङ्गः संत्रासनो वनचराणामनयो वनगहनानां प्रादुरभवत् ।

भयद्रुतोद्भ्रान्तविहङ्गमार्थं
परिभ्रमद्भीतमृगं समन्तात् ।
धूमौघमग्नं पटुवह्निशब्दं
वनं तदार्त्येव भृशं ररास ॥

क्रमेण चोत्पीड्यमान इव वह्निः पटुना मारुतेन तृणगहनानुसारी तेषां नीडसमीपमुपजगाम । अथ ते वर्तकापोतका भयविरसव्याकुलविरावाः परस्परनिरपेक्षाः सहसा समुत्पेतुः । परिदुर्बलत्वादसंजातपक्षत्वाच्च बोधिसत्त्वस्तु नोत्पतितुं प्रयत्नं चकार । विदितात्मप्रभावस्त्वसंभ्रान्त एव स महासत्त्वः

सरभसमिवोपसर्पन्तमग्निं सानुनयमित्युवाच—

व्यर्थाभिधानचरणोऽस्म्यविरूढपक्ष-
स्त्वत्सम्भ्रमाच्च पितरावपि मे प्रलीनौ ।
त्वद्योग्यमस्ति न च किञ्चिदिहातिथेय-
मस्मान्निवर्तितुमतस्तव युक्तमग्ने ॥

इत्युक्ते सत्यपरिभावितवचसा तेन महासत्त्वेन—

उदीर्यमाणोऽप्यनिलेन सोऽग्नि-
र्विशुष्कसंसक्ततृणेऽपि कक्षे ।
नदीमिव प्राप्य विवृद्धतोयां
तद्वाचमासाद्य शशाम सद्यः ॥

अद्यापि तं हिमवति प्रथितं प्रदेशं
दावाग्निरुद्धतशिखोऽपि समीरणेन ।
मन्त्राभिशप्त इव नैकशिरा भुजङ्गः
सङ्क्षोभमन्दलुलितार्चिरुपैति शान्तिम् ॥

तत्किमिदमुपनीतमिति, उच्यते—

वेलामिव प्रचलितोर्मिफणः समुद्रः
शिक्षां मुनीन्द्रविहितामिव सत्यकामः ।
सत्यात्मनामिति न लङ्घयितुं यदाज्ञां
शक्तः कृशानुरपि सत्यमतो न जह्यात् ॥

तदेवं सत्यवचनपरिभाविता वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः ।

—आर्यशूरः (जातकमालायां वर्तकापोतकजातकम्)

६—दारगुणाः

अस्ति द्रविडेषु काञ्ची नाम नगरी। तस्यामनेककोटिसारः श्रेष्ठिपुत्रः शक्तिकुमारो नामासीत्। सोऽष्टादशवर्षदेशीयश्चिन्तामापेदे—'नास्त्यदाराणाम् अननुगुणदाराणां वा सुखं नाम। तत्कथं नु गुणवद् विन्देयं कलत्रम्' इति।

अथ परप्रत्ययाहृतेषु दारेषु यादृच्छिकीं सम्पत्तिमनभिसमीक्ष्य कार्तान्तिको नाम भूत्वा वस्त्रान्तपिनद्धशालिप्रस्थो भुवं बभ्राम। 'लक्षणज्ञोऽयम्' इत्यमुष्मै कन्याः कन्यावन्तः प्रदर्शयाम्बभूवुः। यां काञ्चिल्लक्षणवतीं सवर्णां कन्यां दृष्ट्वा स किल स्म ब्रवीति—'भद्रे, शक्नोषि किमनेन शालिप्रस्थेन गुणवदन्नमस्मानभ्यवहारयितुम्' इति। स हसितावधूतो गृहाद् गृहं प्रविश्याभ्रमत्।

एकदा तु शिबिषु कावेरीतीरपत्तने सह पितृभ्यामवसितमहर्द्धिमवशीर्णभवनसारां धात्र्या प्रदर्श्यमानां काञ्चन विरलभूषणां कुमारीं ददर्श। अस्यां संसक्तचक्षुश्चातर्कयत्—'अस्याः खलु कन्यकायाः सर्व एवावयवा नातिस्थूला नातिकृशा नातिह्रस्वा नातिदीर्घा न विकटा मृजावन्तश्च। रक्ततलाङ्गुली यवमत्स्यकमलकलशाद्यनेकपुण्यलेखालाञ्छितौ करौ, समगुल्फसन्धी मांसलावशिरालौ चाङ्घ्रौ, तनुतरमीषन्निम्नं गम्भीरं नाभिमण्डलम्, वलित्रयेण चालङ्कृतमुदरम्, धनधान्यपुत्रभूयस्त्वचिह्नलेखालाञ्छिततले स्निग्धोदग्रकोमलनखमणी ऋज्वनुपूर्ववृत्तताम्राङ्गुली सन्नतांसदेशे सौकुमार्यवत्यौ निमग्नपर्वसन्धी च बाहुलते, तन्वी कम्बुवृत्तबन्धुरा च कन्धरा, वृत्त-

मध्यविभक्तरागाधरम् असंक्षिप्तचारुचिबुकम् आपूर्णकठिनगण्डमण्डलम् असङ्गतानुवक्रनीलस्निग्धभ्रूलतम् अनतिप्रौढतिलकुसुमसदृशनासिकम् असितधवलरक्तत्रिभागभासुरमधुराधीरसञ्चारमन्थरायतेक्षणम् इन्दुशकलसुन्दरललाटम् इन्द्रनीलशिलाकाररम्यालकपंक्ति द्विगुणकुण्डलितम्लाननालीकनाललितलम्बश्रवणपाशयुगलमाननकमलम्, अनतिभङ्गुरो बहुलः पर्यन्तेऽप्यकपिलरुचिरायामवानेकैकनिसर्गसमस्निग्धनीलो गन्धग्राही च मूर्धजकलापः। सेयमाकृतिर्न व्यभिचरति शीलम्। आसज्जति च मे हृदयमस्यामेव। तत्परीक्ष्यैनामुद्वहेयम्। अविमृश्यकारिणां हि नियतमनेकाः पतन्त्यनुशयपरम्पराः' इति स्निग्धदृष्टिराचष्ट —'भद्रे, कच्चिदस्ति कौशलं शालिप्रस्थेनानेन सम्पन्नमाहारमस्मानभ्यवहारयितुम्' इति।

ततस्तया वृद्धदासी साकूतमालोकिता। तस्य हस्तात्प्रस्थमात्रं धान्यमादाय क्वचिदलिन्दोद्देशे सुसिक्तसंमृष्टे दत्तपादशौचमुपावेशयत्। सा कन्या तान् गन्धशालीन्संक्षुद्य मात्रया विशोष्यातपे मुहुर्मुहुः परिवर्त्य स्थिरसमायां भूमौ नालीपृष्ठेन मृदु मृदु घट्टयन्ती तुषैरखण्डैस्तण्डुलान् पृथक्चकार। जगाद च धात्रीम्—'मातः, एभिस्तुषैरर्थिनो भूषणमृजाक्रियाक्षमैः स्वर्णकाराः। तेभ्य इमान्दत्त्वा लब्धाभिः काकिणीभिः स्थिरतराण्यनत्यार्द्राणि नातिशुष्काणि काष्ठानि मितंपचां स्थालीमुभे शरावे चाहर' इति।

तथाकृते तया तांस्तण्डुलाननतिनिम्नोत्तानविस्तीर्णकुक्षौ ककुभोलूखले लोहपत्रवेष्टितमुखेन समशरीरेण विभाव्यमानमध्यतानवेन व्यायतेन गुरुणा खादिरेण मुसलेन चतुरललितो-

क्षपणावक्षेपणायामितभुजम् असकृदङ्गुलिभिरुद्धृत्योद्धृत्यावहत्य शूर्पशोधितकणकिंशारुकांस्तण्डुलानसकृदद्भिः प्रक्षाल्य क्वथितपञ्चगुणे जले दत्तचुल्लीपूजा प्राक्षिपत्। प्रश्लथावयवेषु प्रस्फुरत्सु तण्डुलेषु मुकुलावस्थामतिवर्तमानेषु संक्षिप्यानलमुपहितमुखपिधानया स्थाल्यान्नमण्डमगालयत्। दर्व्या चावघट्ट्य मात्रया परिवर्त्य समपक्वेषु सिक्थेषु तां स्थालीमधोमुखीमवातिष्ठिपत्। इन्धनान्यन्तःसाराण्यम्भसा समभ्युक्ष्य प्रशमिताग्नीनि कृष्णाङ्गारीकृत्य तदर्थिभ्यः प्राहिणोत्—'एभिर्लब्धाः काकिणीर्दत्त्वा शाकं घृतं दधि तैलमामलकं चिञ्चाफलं च यथा-लाभमानय' इति।

तथानुष्ठिते च तया द्वित्रानुपदंशानुपपाद्य तदन्नमण्डमार्द्रवालुकोपहितनवशरावगतमतिमृदुना तालवृन्तानिलेन शीतलीकृत्य, सलवणसम्भारं दत्ताङ्गारधूपवासं च सम्पाद्य, तदप्यामलकं श्लक्ष्णपिष्टमुत्पलगन्धि कृत्वा धात्रीमुखेन स्नानाय तमचोदयत्। तया च स्नानशुद्ध्या दत्ततैलामलकः क्रमेण सस्नौ। स्नातः सिक्तमृष्टे कुट्टिमे फलकमारुह्य पाण्डुहरितस्य त्रिभागशेषलूनस्याङ्गणकदलीपलाशस्योपरि दत्तशरावद्वयमार्द्रमभिमृशन्नतिष्ठत्। सा तु तां पेयामेवाग्रे समुपाहरत्। पीत्वा चापनीताध्वक्लमः प्रहृष्टः प्रक्लिन्नसकलगात्रः स्थितोऽभूत्।

ततस्तस्य शाल्योदनस्य दर्वीद्वयं दत्त्वा सर्पिर्मात्रां सूपमुपदंशं चोपजहार। इमं च दध्ना च त्रिजातकावचूर्णितेन सुरभिशीतलाभ्यां च कालशेयकाञ्जिकाभ्यां शेषमन्नमभोजयत्। सशेष एवान्धस्यसावतृप्यत्। अयाचत पानीयम्। अथ नवभृङ्गारसम्भृतमगुरुधूपधूपितमभिनवपाटलाकुसुमवासितमुत्फुल्लो-

त्पलग्रथितसौरभ वारि नालीधारात्मना पातयाम्बभूव । सोऽपि मुखोपहितशरावेण हिमशिशिरकणकरालितारुणायमानाक्षिपक्ष्मा धारारवाभिनन्दितश्रवणः स्पर्शसुखोद्भिन्नरोमाञ्चकर्कश-कपोलः परिमलप्रवालोत्पीडफुल्लघ्राणरन्ध्रो माधुर्यप्रकर्षा-वर्जितरसनेन्द्रियस्तदच्छं पानीयमाकण्ठं पपौ । शिरःकम्पसंज्ञा-वारिता च पुनरपरकरकेणाचमनमदत्त कन्या । वृद्धया तु तदुच्छिष्टमपोह्य हरितगोमयोपलिप्ते कुट्टिमे स्वमेवोत्तरीय-कर्पटं व्यवधाय क्षणमशेत ।

परितुष्टश्च विधिवदुपयम्य कन्यां निन्ये । नीत्वैतदनुपेक्षः कामपि गणिकामवरोधमकरोत् । तामप्यसौ प्रियसखीमिवो-पाचरत् । पतिं च दैवतमिव मुक्ततन्द्रा पर्यचरत् । गृहकार्याणि चाहीनमन्वतिष्ठत् । परिजनं दाक्षिण्यनिधिरात्माधीनमकरोत् । तद्गुणवशीकृतश्च भर्ता सर्वमेव कुटुम्बं तदायत्तमेव कृत्वा तदेकाधीनजीवितशरीरस्त्रिवर्गं निर्विवेश । तद्ब्रवीमि— 'गृहिणः प्रियहिताय दारगुणाः' इति ।

—दंडी (दशकुमारचरितम् ६)

१०—प्रणम्या दूरतः खलाः

अनिष्टोद्भावनरसोत्तरं हि भवति खलहृदयम् । को नामाऽस्य तत्त्वनिरूपणे समर्थः ? तथाहि—भीमो नवकद्वेषी, आश्रयाशोऽपि मातरिश्वा, अतिकटुरपि महारसः, सर्षपस्नेह इव करयुगलालितोऽपि शिरसा धृतोऽपि न कटुत्वं जहाति । ताल-फलरस इवापातमधुरः परिणामविरसस्तिक्तश्च । पादपराग

इवावधूतोऽपि मूर्धानं कषाययति। विषतरुप्रसूनमिव यथा यथाऽनुभूयते तथा तथा मोहमेव दृढयति। नीचदेशस्येव न वारिविरहोऽस्य जायते। निदाघदिवस इव बहुमत्सरः सुमनसां सन्तापं वहति। अन्धकार इव दोषानुबन्धचतुरो विश्वकर्मावलोपनोद्यतश्च। रुद्र इव विरूपाक्षः, विष्णुरिव चक्रधरः। शशाङ्क इवोच्चैःश्रवा नदेशजप्रशंसी च। शरस्येव विभिन्नस्यापि सतः स्नेहं दर्शयतः तक्राट इव हृदयं विलोडयति। यक्षबलिरिव आत्मघोषमुखरो मण्डलभ्रमणकश्च। मातङ्ग इव स्ववशालोलमुखोऽधरीकृतदानश्च। वृषभ इव सुरभियानविकलः। कामीव गोत्रस्खलनविधुरो वामाध्वानुरक्तश्च। जीर्णरोग इव कलेवरे वचसि मन्दिमानमावहति। बन्धूक इव रक्तः कटपले विभावरीरक्तश्च। परेत इव बन्धुतापदर्शनः। परशुरिव भद्रश्रियमपि खण्डयति। कुदाल इव दलितगोत्रः क्षमाभाजः प्राणिनश्च निकृन्तति। रतिकील इव जघन्यकर्मलग्नो ह्रेपयति साधून्। दुष्टशूपश्रुतिरिव काननरचिरनुगतमपि यवमं सततं नानुमोदते। अबीजादेव जायन्ते, अकाण्डादेव प्ररोहन्ति खलव्यसनाङ्कुराः, दुरुच्छेदाश्च भवन्ति।

असतां हृदि प्रविष्टो दोषलवः करालायते। सतां तु हृदि न प्रविशत्येव। यदि कथमपि प्रविशति तदा पारद इव क्षणमपि न तिष्ठति। मृगा इव विनोदबिन्दोर्वशगा न भवन्ति माधव। सुखं जना हि भवादृशाः शरत्समया इव हरन्ति मित्रमण्डलस्य। न च सचेतना विसदृशमुपदिशन्ति। अचेतनानामपि मैत्री समुचितपक्षे निक्षिप्ता। तथाहि—माधुर्यशैत्यशुचित्वसन्तापशान्तिभिः पय इति। शब्दसाम्याच्च मित्रतामुपगतस्य तत्सङ्गमादभिवर्धितस्य क्षीरस्य क्वाथे परतो ममैव क्षयो युक्त इति विचिन्त्येव वारिणा क्षीयते।

—सुबन्धु (वासवदत्ता)

११—दहति निदाघो नितराम्

कदाचित्कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः सम्फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः। प्रत्यग्रनिर्जितस्यास्तमुपगतवतो वसन्तसामन्तस्य बालापत्येष्विव पयःपायिषु नवोद्यानेषु दर्शितस्नेहो मृदुरभूत्। अभिनवोदितश्च सर्वस्यां पृथिव्यां सकलकुसुमबन्धनमोक्षमकरोत्प्रतपन्नुष्णसमयः। स्वयमृतुराजस्याभिषेकार्द्राश्चामरकलापा इवागृह्यन्त कामिनीचिकुरचयाः कुसुमायुधेन। हिमदग्धसकलकमलिनीकोपेनेव हिमालयाभिमुखीं यात्रामदादंशुमाली।

अथ ललाटन्तपे तपति तपने चन्दनलिखितललाटिकापुण्ड्रकैरलकचीरचीवरसवीतैः स्वेदोदबिन्दुमुक्ताक्षवलयवाहिभिर्दिनकराराधननियमा इवागृह्यन्त ललनाललाटेन्दुभिः। चन्दनधूसराभिरसूर्यम्पश्याभिः कुमुदिनीभिरिव दिवसमसुप्यत सुन्दरीभिः। निद्रालसा रत्नालोकमपि नासहन्त दृशः, किमुत जरठमातपम्। अशिशिरसमयेन चक्रवाकमिथुनाभिनन्दिताः सरित इव तनिमानमानीयन्त मोडुपाः शर्वर्यः। अभिनवपट्टपाटलामोदसुरभिपरिमलं न केवल जलम्, जनस्य पवनमपि पातुमभूदभिलाषो दिवसकरसन्तापात्।

क्रमेण च खरखगमयूखे, खण्डितशैशवे, शुष्यत्सरसि, सीदत्स्रोतसि, मन्दनिर्झरे, कातरकपोतकूजितानुबन्धबधिरितविश्वे, श्वसत्पतत्त्रिणि, करीषङ्कपमरुति, विरलवीरुधि, रुधिरकुतूहलिकेसरिकिशोरकलिह्यमानकठोरधातकीस्तवके, लोहितायमानमन्दारसिन्दूरितसीम्नि, घर्ममर्मरितगर्मुति, तप्तपांशुकुकूलकातरविकिरे, विवरशरणश्वाविधे, रजनीराजयक्ष्मणि, कठोरीभवति निदाघकाले प्रावर्तन्तोन्मत्ता मातरिश्वानः।

सर्वतश्च क्वचित्स्वच्छन्दतृणचारिणो हरिणाः, क्वचित्तरुतल्पविवरविवर्तिनो बभ्रवः, क्वचिज्जटावलम्बिनः कपिलाः, क्वचिच्छकुनिकुलकुलायपातिनः श्येनाः, क्वचिद् धूमोद्गारमन्दरुचयः, क्वचित् सकलजगद्ग्रामघस्मराः सभस्मकाः, क्वचित् वेणुशिखरलग्नमूर्तयोऽत्यन्तवृद्धाः क्वचिदचलोपयुक्ताशिलाजतवः क्षपिणः, क्वचित्सर्वंगमभुजः पीवानः, क्वचिद्दग्धगुग्गुलवो रौद्राः क्वचिज्ज्वलितनेत्रदहनदग्धकुसुमशरमदनाः कृतस्थाणुस्थितयः, चटुलशिखा नर्तनारम्भारभटीनटाः, स्वयमपि धूमसम्भोदसमुद्भूतिभियेव भक्षयन्तः, स्वेदिन इव विलीयमानमधुपटलगोलगलितमधूच्छिष्टवृष्टयः काननेषु, खलतय इव परिशीर्यमाणशिखासहतयो महोपरेषु, गृहीतशिलाकवला इव ज्वलितसूर्यमणिशकलेषु शिलोच्चयेषु, प्रत्यदृश्यन्त दारुणा दावाग्नयः ।

–बाणभट्ट (हर्षचरितम् २)

१२—किं स्वर्णम् ? चारित्र्यम्; को निकषो ? विपदेका

पातयति महापुरुषान्सममेव बहूननादरेणैव ।
परिवर्तमान एकः कालः शैलानिवानन्तः ॥

अन्यस्मिन्नहनि समीपमस्य (हर्षस्य) राजकुलात् द्रुतगतिवशविशीर्यमाणालङ्कारझाङ्कारिणी 'क्व कुमारः, क्व कुमारः ?' इति प्रतिपुरुषं पृच्छन्ती वेगेनि नाम्ना यशोवत्याः प्रतीहार्याजगाम। विपण्णलोकलोचनप्रत्युद्गता चोपसृत्य कुट्टिमन्यस्तहस्तयुगला गलन्तीभिः सिञ्चन्तीव शुष्यन्त दशनदीधितिधाराभिराधूसरमधरमधोमुखी विज्ञापितवती— 'देव, परित्रायस्व, परित्रायस्व ! जीवत्येव भर्तरि किमप्यध्यवसितं देव्या' इति।

ततस्तदपरमाकर्ण्य च्युत इव सत्त्वेन, द्रुत इव दुःखेन, आक्रान्त इव चिन्तया, तुलित इव तापेन, अङ्कीकृत इवातङ्केनाप्रतिपत्तिरासीत्। आसीच्चास्य चेतसि प्रतिपन्नसंज्ञस्य— 'बहुशोऽपि हृदये दुःखाभिषङ्गो निपतन्नश्मनीव लोहप्रहारः कठिने हुतभुजमुत्थापयति न तु भस्मसात्करोति मे निरनुक्रोशस्य कायम्' इति।

उत्थाय च त्वरमाणोऽन्तःपुरगमात्। तत्र च प्रविशन्नेव निर्यान्तीम्, दत्तसर्वस्वापतेयाम्, गृहीतमरणप्रसाधनाम्, जानकीमिव जातवेदसं पत्युः पुरः प्रवेक्ष्यन्तीम्, प्रत्यग्रस्नानार्द्रदेहतया श्रियमिव भगवतीं सद्यः समुद्रादुत्थितांम्, कुसुम्भवभ्रुणी वाससी दिवमिव तेजसी सान्ध्ये दधानाम्, बाष्पा भर्तृभक्त्या च निजया प्रसाधिताम्, मूर्च्छया जरत्या च संस्तुतया धार्यमाणाम्, सख्या

पीडया च व्यसनसङ्गतया समालिङ्गिताम्, परिजनेन सन्तापेन च गृहीतसर्वावयवेन परीताम्, कुलपुत्रैरुच्छ्वसितैश्च महत्तरैरधिष्ठिताम्, कञ्चुकिभिर्दु:खैश्चातिवृद्धैरनुगता मातरं ददर्श।

दूरादेव च बाष्पायमाणदृष्टिरभ्यधात्—'अम्ब, त्वमपि मा मन्दपुण्यं त्यजसि ? प्रसीद। निवर्तस्व' इत्यभिदधान एव च मस्नेहमिव नूपुरमणिमरीचिभिश्चुम्ब्यमानचूडश्चरणयोर्न्यपतत्। देवी तु यशोमती तथा तिष्ठति पादनिहितशिरसि विनमति प्रेयसि तनये गुरुणा गिरिणेवोद्वेगावेगेनावष्टभ्यमाना, कृतप्रयत्नापि निवारयितुं न शशाक बाष्पोत्पतनम्। वृत्तान्तं गर्हमाणा मुक्तकण्ठमतिचिरं प्राकृतप्रमदेव प्रारोदीत्।

प्रशान्ते च मन्युवेगे मस्नेहमुत्थापयामास सुतम्। सुतवदनविनिहितनिभृतनयनयुगला चिरं स्थित्वा पुनः पुनरायत निश्वस्यावादीत्—'वत्स, नासि न प्रियो निर्गुणो वा परित्यागार्हो वा। स्तन्येनैव सह त्वया पीतं मे हृदयम्। अस्मिंश्च समये प्रभूतप्रभुप्रसादान्मरिता रता च पश्यति दृष्टिः। अपि च पुत्रक, कुलकलत्रमस्मि चारित्रमात्रधना धर्मधवले कुले जाता। वीरजा वीरजाया वीरजननी च मादृशी पराक्रमक्रीता कथमन्यथा कुर्यात्। एवंविधेन पित्रा ते भरतभगीरथनाभागनिभेन नरेन्द्रवृन्दारकेण गृहीतः पाणिः। आसेवितं सेवासम्भ्रान्तानन्तसामन्तसीमन्तिनीसमावर्जितजाम्बूनदघटाभिषेकं शिरसा। लब्धो मनोरथदुर्लभो महादेवीपट्टबन्धसत्कारस्तलाटेन। आपीतौ युष्मद्विधैः पुत्रैर्मित्रकलत्रवन्दिवृन्दविधूयमानचामरमरुच्चलचीनांशुकधरौ पयोधरौ। सपत्नीनां शिरःसु निहितं नमन्निखिलकटककुटुम्बिनीकिरीटमाणिक्यमालार्चितं चरणयुगल-

कम्। एवं कृतार्थसर्वावयवा किमपरमपेक्षे क्षीणपुण्या ? भर्तुमविधवैव वाञ्छामि। न च शक्नोमि दग्धस्य स्वभर्तार्यपुत्रविरहिता रतिरिव निरर्थकान् प्रलापान् कर्तुम्। मरणाच्च मे जीवितमेवास्मिन्समये साहसम्। अतिशीतलः पतिशोकानलादक्षयस्नेहेन्धनादस्मादनलः। दुःखदग्धानां च भूतिरमङ्गला चाप्रशस्ता च निरुपयोगा च भवति। वत्स, विधवानां यशसा स्थातुमिच्छामि लोके न वपुषा। तदहमेव त्वा तावत्तात प्रसादयामि न पुनर्मनोरथप्रातिकूल्येन कदर्थनीयास्मि।' इत्युक्त्वा पादयोरपतत्।

स तु ससम्भ्रममपनीय चरणयुगलम्, अवनमिततनुरुभयकरविधृतवपुषम् अवनितलगतशिरसम्, उदनमयन्मातरम्। दुर्निवारितां च शुचः समवधार्य, कुलयोपिदुचितां च तामेव श्रेयसीं मन्यमानः क्रियाम्, कृतनिश्चया च तां ज्ञात्वा तूष्णीमधोमुखोऽभवत्।

अभिनन्दति हि स्नेहकातरापि कुलीनता देशकालानुरूपम्। देव्यपि यशोवती परिष्वज्य समाघ्राय च शिरसि निर्गत्य चरणाभ्यामेव चान्तःपुरात्पौराक्रन्दप्रतिशब्दनिर्भराभिरुपरुध्यमानेव दिग्भिः सरस्वतीतीरं ययौ। तत्र च स्त्रीस्वभावकातरैर्दृष्टिपातैः प्रविकसितरक्तपङ्कजपुञ्जैरिवार्चयित्वा भगवन्तं भानुमन्तमिव मूर्तिरैन्दवी चित्रभानुं प्राविशत्।

इतरोऽपि मातृमरणविह्वलो बन्धुवर्गपरिवृतः पितुः पार्श्वं प्रायात्। अपश्यच्च स्वल्पावशेषप्राणवृत्तिं परिवर्त्यमानतारकं तारकराजमिवास्तमभिलषन्तं जनयितारम्। असह्यशोकोद्रेकाभिद्रुतश्च त्याजितः स्नेहेन धैर्यम्। आश्लिष्यास्य सकलदुर्मद-

महीपालमौलिमालालालितौ पादपद्मौ विमुक्तार्तस्वरश्चिरं रुरोद।

राजा तु तमुपरुध्यमानदृष्टिरविरलस्पन्दितशब्दाभिज्ञश्रवण प्रत्यभिज्ञाय शनैः शनैरवादीत् —"पुत्र, नार्हस्येवं भवितुम्। भवद्विधा न ह्यमहासत्त्वाः। महासत्त्वता हि प्रथममवलम्बनं लोकस्य पश्चाद्राजबीजिता। सत्त्ववतां चाग्रणीः सर्वातिशयाश्रितः क्व भवान्, क्व वैक्लव्यम्? 'कुलप्रदीपोऽसि' इति दिवसकर-सदृशतेजसस्ते लघूकरणमिव। 'पुरुषसिंहोऽसि' इति शौर्य-पटुप्रज्ञोपबृंहितपराक्रमस्य निन्देव। 'क्षितिरस्ति तव' इति लक्षणाख्यातचक्रवर्तिपदस्य पुनरुक्तमिव। 'गृह्यतां श्रीः' इति स्वयमेव श्रिया परिगृहीतस्य विपरीतमिव। 'अध्यास्यतामयं लोकः' इत्युभयलोकविजिगीषोः फल्गुफलमिव। 'स्वीक्रियतां कोशः' इति शशिकरनिकरनिर्मलयशःसंचयैकाभिनिवेशिनो निष्प्रयोजनमिव। 'आत्मीक्रियतां राजकम्' इति गुणगणात्मी-कृतजगतो गतार्थमिव। 'उह्यतां राज्यभारः' इति भुवनत्रय-भारवहनोचितस्यानुचितनियोग इव। 'प्रजाः परिरक्ष्यन्ताम्' इति दीर्घदोर्दण्डार्गलितदिङ्मुखस्यानुवाद इव। 'परिजनः परिपाल्यताम्' इति लोकपालोपमस्यानुपदेशक्रममिव। 'सातत्येन शस्त्राभ्यासः कार्यः' इति धनुर्गुणकिणकलङ्कीकृतप्रकोष्ठस्य किमादिश्यते। 'निगृह्यतां चापलं जनानाम्' इति नूतनतरवयसि निगृहीतेन्द्रियस्य निरवकाशेव मे वाणी। 'निःशेषतां शत्रवो नेयाः' इति सहजस्य तेजस एवैष चिन्ता।" इत्येवं वदन्नेवापुन-रुन्मीलनाय निमिमील राजसिंहो लोचने।

अस्मिन्नेवान्तरे भूपस्यायुषेव तेजसा व्ययुज्यत। ततश्च लज्जमान इव नरपतिजीवितापहरणजनितादात्मापराधादधो-मुखः समभवत्। भूपालाभावशोकशिखिनेवान्तस्ताप्यमान-स्ताम्रतां प्रपेदे। मन्दं मन्दमप्रियप्रश्नार्थमिव लौकिकीं स्थिति-

मनुवर्तमानोऽवातरद्दिव.। दिदृक्षुरिव जनेशाय जलाञ्जलिमपर-जलनिधिसमीपमुपससर्प । सद्योदत्तजलाञ्जलिर्दुःखदहनदग्धमिव करसहस्रमालोहितमाधत्त ।

—बाणभट्टः (हर्षचरितम् ५)

१३—अहो प्रभावस्तपसाम् !

अनतिदूरमिव गत्वा दिशि सदा सन्निहितकुसुमफलैरारण्यस्थलीभिरुपशोभितप्रान्तम्, आगृहीतसमित्कुशकुसुममृद्भिरध्ययनमुखरशिष्यानुगतैः सर्वतः प्रविशद्भिर्मुनिभिरशून्योपकण्ठम्, अनवरतश्रवणगृहीतवषट्कारवाचालशुककुलम्, अनेकसारिकोद्घुष्यमाणसुब्रह्मण्यम्, अरण्यकुक्कुटोपभुज्यमानवैश्वदेवबलिपिण्डम्, परिचितशाखामृगकराकृष्टनिष्कास्यमानप्रवेश्यमानजरदन्धतापसम्, इभकलभकार्थोपभुक्तपतितैः सरस्वतीभुजलताविगलितैः शङ्खवलयैरिव मृणालशकलैः कल्माषितम्, ऋषिजनार्थमेणकैर्विषाणशिखरोत्खन्यमानविविधकन्दमूलम्, अम्बुपूर्णपुष्करपुटैर्वनकरिभिरापूर्यमाणविटपालवालकम्, उपजातपरिचयैः कलापिभिः पक्षपुटपवनसंधुक्ष्यमाणमुनिहोमहुताशनम्, सुरभिविलेपनधरमपि सततामिर्भूतहव्यधूमगन्धम्, मातङ्गकुलाध्यासितमपि पवित्रम्, उल्लसितधूमकेतुशतमपि प्रशान्तोपद्रवम्, परिपूर्णद्विजपतिमण्डलमनाथमपि सदा संनिहिततरुगहनान्धकारम्, अतिरमणीयम्, अपरमिव ब्रह्मलोकम् आश्रमपदम् ।

यत्र च मलिनता हविर्धूमेषु न चरितेषु, मुखरागः शुकेषु न कोपेषु, तीक्ष्णता कुशाग्रेषु न स्वभावेषु, चञ्चलता कदलीदलेषु न मनःसु, चक्षूरागः कोकिलेषु न परकलत्रेषु, मेखलाबन्धो व्रतेषु नेर्ष्याकलहेषु, स्तनस्पर्शो होमधेनुषु न कामिनीषु, पक्षपातः कृकवाकुषु न विद्याविवादेषु, भ्रान्तिरनलप्रदक्षिणासु न शास्त्रेषु, वसुसङ्कीर्तनं दिव्यकथासु न तृष्णासु, गणना रुद्राक्षवलयेषु न शरीरेषु, मुनिबालनाशः क्रतुदीक्षया न मृत्युना, रामानुरागो रामायणेन न यौवनेन, मुखभङ्गविकारो जरया न धनाभिमानेन। यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितम्, वयःपरिणामेन द्विजपतनम्, उपवनचन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीनां भूतिमत्त्वम्, एणकानां गीतश्रवणव्यसनम्, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः।

तत्र च तापसकुमारिकाभिरालवालदत्तपीतपिष्टपञ्चाङ्गुलस्य परिमण्डलतया विस्तीर्णावकाशस्य रक्ताशोकतरोरधश्छायायामुपविष्टम्, समन्तान्महर्षिभिः परिवृतम्, स्थैर्येणाचलानां गाम्भीर्येण सागराणां तेजसा सवितुः प्रशमेन तुषाररश्मेर्निर्मलतयाम्बरतलस्य संविभागमिव कुर्वाणम्, वैनतेयमिव स्वप्रभावोपात्तद्विजाधिपत्यम्, कमलासनमिवाश्रमगुरुम्, जरच्चन्दनतरुमिव भुजङ्गनिर्मोकधवलजटाकुलम्, प्रशान्तवारणपतिमिव प्रलम्बकर्णपालम्, बृहस्पतिमिवाजन्मसंवर्धितकचम्, दिवसमिवोद्यदर्कबिम्बभास्वरमुखम्, शरत्कालमिव क्षीणवर्षम्, शान्तनुमिव प्रियसत्यव्रतम्, अम्बिकाकरतलमिव रुद्राक्षवलयग्रहणनिपुणम्, शिशिरसमयसूर्यमिव कृतोत्तरासङ्गम्, वडवानलमिव सन्ततपयोभक्षम्, शून्यनगरमिव दीनानाथविपन्नशरणम्, पशुपतिमिव भस्मपाण्डुरोमाश्लिष्टशरीरम्, भगवन्तं जाबालिमपश्यम्।

अवलोक्य चाहमचिन्तयम्—'अहो प्रभावस्तपसाम् ! इयमस्य शान्तापि मूर्तिरुत्तप्तकनकावदाता परिस्फुरन्ती सौदामिनीव चक्षुषः प्रतिहन्ति तेजांसि, सततमुदासीनापि महाप्रभावतया भयमिवोपजनयति प्रथमोपगतस्य । पुण्यानि हि नामग्रहणान्यपि महामुनीनाम्, किं पुनर्दर्शनानि । धन्यमिदमाश्रमपदमयमधिपतिर्यत्र । वहलाज्यधूमपटलमलिनीकृताश्रमस्य भगवतः प्रभावाद्भीतमिव रविकिरणजालमपि दूरतः परिहरति तपोवनम् । एते च पवनलोलपुञ्जीकृतशिखाकलापा रचिताञ्जलय इवात्र मन्त्रपूतानि हवींषि गृह्णन्त्येतत्प्रीत्याशुशुक्षणयः । तरलितदुकूलवल्कलोऽयं चाश्रमलताकुसुमसुरभिपरिमलो मन्दमन्दचारी सशङ्क इवास्य समीपमुपसर्पति गन्धवाहः । प्रायो महाभूतानामपि दुरभिभवानि भवन्ति तेजांसि । सर्वतेजस्विनामयं चाग्रणीः ।

'एष प्रवाहः करुणारसस्य, सन्तरणसेतुः संसारसिन्धोः, आधारः क्षमाम्भसाम्, परशुस्तृष्णालतागहनस्य, सागरः सन्तोषामृतरसस्य, उपदेष्टा सिद्धिमार्गस्य, अस्तगिरिरसद्ग्रहस्य मूलमुपशमतरोः, नाभिः प्रज्ञाचक्रस्य, स्थितिवंशो धर्मध्वजस्य, तीर्थं सर्वविद्यावताराणाम्, वडवानलो लोभार्णवस्य, निकषोपलः शास्त्ररत्नानाम्, दावानलो रागपल्लवस्य, मन्त्रः क्रोधभुजङ्गस्य, दिवसकरो मोहान्धकारस्य, अर्गलाबन्धो नरकद्वाराणाम्, कुलभवनमाचाराणाम्, आयतनं मङ्गलानाम्, अभूमिर्मदविकाराणाम्, दर्शकः सत्पथानाम्, उत्पत्तिः साधुतायाः, नेमिरुत्साहचक्रस्य, आश्रयः सत्त्वस्य, प्रतिपक्षः कलिकालस्य, कोशस्तपसः, सखा सत्यस्य, क्षेत्रमार्जवस्य, प्रभवः पुण्यसंचयस्य, अदत्तावकाशो मत्सरस्य, अरातिर्विपत्तेः, अस्थानं परिभूतेः, अननुकूलोऽभिमानस्य, असम्मतो दैन्यस्य, अनायत्तो रोषस्य, अनभिमुखः सुखानाम् ।

'अस्य भगवतःप्रसादादेवोपशान्तवैरमपगतमत्सरं तपोवनम् ।

अहो प्रभावो महात्मनाम्! अत्र हि शाश्वतिकमपहाय विरोधमुपशान्तात्मानस्तिर्यञ्चोऽपि तपोवनवसतिसुखमनुभवन्ति। तथा हि एष विकचोत्पलवनरचनानुकारिणमुत्पतच्चारुचन्द्रकशतं हरिणलोचनद्युतिशबलमभिनवशाद्वलमिव विशति शिखिनः कलापमातपाहतो निःशङ्कमहिः। अयमुत्सृज्य मातरमजातकेसरैः केसरिशिशुभिः सहोपजातपरिचयः क्षरत्क्षीरधारं पिबति कुरङ्गशावकः सिंहीस्तनम्। एष मृणालकलापाशङ्किभिः शशिकरधवलं सटाभारमामीलितलोचनो बहु मन्यते द्विरदकलभैराकृष्यमाणं मृगपतिः। इदमिह कपिकुलमपगतचापलमुपनयति मुनिकुमारकेभ्यः स्नातेभ्यः फलानि। एते च न निवारयन्ति मदान्धा अपि गण्डस्थलीभाञ्जि मदजलपाननिश्चलानि मधुकरकुलानि सञ्जातदयाः कर्णतालैः करिणः। किं बहुना, तापसाग्निहोत्रधूमलेखाभिरुत्सर्पन्तीभिरनिशमुपपादितकृष्णाजिनोत्तरासङ्गशोभाः फलमूलभृतो वल्कलिनो निश्चेतनास्तरवोऽपि सनियमा इव लक्ष्यन्तेऽस्य भगवतः। किं पुनः सचेतनाः प्राणिनः' इति।

—बाणभट्ट (कादम्बरी)

१४—अतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्

निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्। गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वं चेति महतीय खल्वनर्थपरम्परा। सर्वाविनयानामेकैकमप्येषामायतन किमुत समवायः। यौवनारम्भे च प्रायः शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः। अनुज्झितधवलतापि सरागैव भवति यूनां दृष्टिः। अपहरति च वात्येव शुष्कपत्र समुद्भूतरजोभ्रान्तिरतिदूरमात्मेच्छया यौवनसमये पुरुषं प्रकृतिः। इन्द्रियहरिणहारिणी च सततमतिदुरन्तेयमुपभोगमृगतृष्णिका। नवयौवनकषायितात्मनश्च सलिलानीव तान्येव विषयस्वरूपाण्यास्वाद्यमानानि मधुरतराण्यापतन्ति मनस.। नाशयति च दिङ्मोह इवोन्मार्गप्रवर्तकः पुरुषमत्यासङ्गो विषयेषु। गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थित शूलमभव्यस्य।

अपगलमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखमुपदेशगुणाः। गुरूपदेशश्च नाम पुरुषाणामखिलमलप्रक्षालनक्षममजल स्नानम्, अनुपजातपलितादिवैरूप्यमजरं वृद्धत्वम्, अनारोपितमेदोदोषं गुरूकरणम्, असुवर्णविरचनमग्राम्य कर्णाभरणम्, अतीतज्योतिरालोकः, नोद्वेगकरः प्रजागरः। विशेषेण तु राज्ञाम्। विरला हि तेषामुपदेष्टारः। अहङ्कारदाहज्वरमूर्च्छान्धकारिता विह्वला हि राजप्रकृतिः। अलीकाभिमानोन्मादकारीणि धनानि। राज्यविषविकारतन्द्राप्रदा राजलक्ष्मीः।

आलोकयतु तावत्कल्याणाभिनिवेशी लक्ष्मीमेव प्रथमम्। न ह्येवंविधमपरमपरिचितमिह जगति किञ्चिदस्ति यथेयमनार्या। लब्धापि खलु दुःखेन परिपाल्यते। दृढगुणपाशसंदाननिष्पन्दीकृतापि नश्यति। न परिचयं रक्षति। नाभिजनमीक्षते। न वैदग्ध्यं

गणयति। न त्यागमाद्रियते। न विशेषज्ञता विचारयति। कमलिनी-सञ्चरणव्यतिकरलग्ननलिननालकण्टकेव न क्वचिन्निर्भरमाबध्नाति पदम्। यथा यथा चेयं चपला दीप्यते तथा तथा दीपशिखेव कज्जलमलिनमेव कर्म केवलमुद्वमति। न हि तं पश्यामि यो ह्यपरिचितयानया न निर्भरमुपगूढो यो वा न विप्रलब्ध। नियत-मियमालेख्यगतापि चलति, पुस्तकमय्यपीन्द्रजालमाचरति, उत्कीर्णापि विप्रलभते श्रुताप्यभिसन्धत्ते, चिन्तितापि वञ्चयति।

एवंविधयापि चानया दुराचारया कथमपि दैववशेन परिगृहीता विक्लवा भवन्ति राजान, सर्वाविनयाधिष्ठानतां च गच्छन्ति। तेषां दाक्षिण्यं प्रक्षाल्यते, हृदयं मलिनीभवति, सत्यवादितापह्रियते गुणाश्चोन्मार्ज्यन्ते। केचिच्छ्रमवशशिथिल-शकुनिगलपुटचपलाभि खद्योतोन्मेषमुहूर्तमनोहराभिर्मनस्विजन-गर्हिताभि सम्पद्भि प्रलोभ्यमाना रागावेशेन बाध्यमाना विह्वलतामुपयान्ति। आसन्नमृत्यव इव बन्धुजनमपि नाभि-जानन्ति। अदूरदर्शिन पापेनेवाध्मातमूर्तयो भवन्ति। तद-वस्थाश्च व्यसनशतशरव्यतामुपगता वल्मीकतृणाग्रावस्थिता जलबिन्दव इव पतितमप्यात्मानं नावगच्छन्ति।

अपरे, तु स्वार्थनिष्पादनपरैर्धनपिशितग्रासगृध्रैरास्थान-नलिनीबकैर्द्यूतं विनोद इति, पानं विलास इति, प्रमत्तता शौर्य-मिति, गुरुवचनावधीरणमपरप्रणेयत्वमिति, स्वच्छन्दता प्रभुत्व-मिति, तरललोकस्तुतिभि दोषानपि गुणपक्षमध्यारोपयद्भि-रन्त स्वयमपि विहसद्भि, प्रतारणकुशलैर्धूर्तैरमानुषोचिताभि स्तुतिभि प्रतार्यमाणा प्रारब्धदिव्योचितचेष्टानुभावा सर्व-जनस्योपहास्यतामुपयान्ति। दर्शनप्रदानमप्यनुग्रहं गणयन्ति। दृष्टिपातमप्युपकारपक्षे स्थापयन्ति। स्पर्शमपि पावनमाकल-यन्ति। मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवताभ्य,

नाभिवादयन्त्यभिवादनार्हान्, नाभ्युत्तिष्ठन्ति गुरून्। जरावैक्लव्यप्रलपितमिति पश्यन्ति वृद्धजनोपदेशम्। आत्मप्रज्ञापरिभव इत्यसूयन्ति सचिवोपदेशाय। कुप्यन्ति हितवादिने। सर्वथा तमभिनन्दन्ति, तं पार्श्वे कुर्वन्ति, तं संवर्धयन्ति, तं बहु मन्यन्ते, तमाप्ततामापादयन्ति यो़ऽहर्निशमनवरतमुपरचिताञ्जलिरधिदैवतमिव विगतान्यकर्तव्यः स्तौति, यो वा माहात्म्यमुद्भावयति।

तदेवंप्राये राज्यतन्त्रेऽस्मिन्महामोहकारिणि च यौवने कुमार तथा प्रयतेथा यथा नोपहस्यसे जनैः, नोपालभ्यसे सुहृद्भिः, न प्रतार्यसे विटैः, नावलुप्यसे सेवकवृकैः, न प्रलोभ्यसे वनिताभिः, नोन्मत्तीक्रियसे मदनेन, नाक्षिप्यसे विषयैः, नावकृष्यसे रागेण, नापह्रियसे सुखेन। तरलहृदयमप्रतिबुद्धं च मदयन्ति धनानि। विद्वांसमपि धीरमप्यभिजातमपि पुरुषमियं दुर्विनीता खलीकरोति लक्ष्मीः। कुलक्रमागतामुद्वह पूर्वपुरुषैरूढां धुरम्। अवनमय द्विषतां शिरांसि। उन्नमय स्वबन्धुवर्गम्।

—बाणभट्टः (कादम्बरी)

१५—प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वै धर्मः

स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत्, तस्य च स्थितिं चिकीर्षुर्मरीच्यादीनग्रे सृष्ट्वा, प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम्। ततोऽन्यांश्च सनकसनन्दनादीनुत्पाद्य निवृत्तिधर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास। द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। तथैको जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षादभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैर्वर्णिभिराश्रमिभिश्च श्रेयोऽर्थिभिरनुष्ठीयमानो दीर्घेण कालेनानुष्ठातॄणां कामोद्भवाद्धीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेनाऽधर्मेणाभिभूयमाने धर्मे, प्रवर्धमाने चाऽधर्मे, जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवादंशेन कृष्णः किल सम्बभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद्वैदिको धर्मः, तदधीनत्वाद्वर्णाश्रमभेदानाम्।

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवानिव जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन्लक्ष्यते। स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं धर्मद्वयमर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नायोपादिदेश, गुणाधिकैर्हि गृहीतोऽनुष्ठीयमानश्च धर्मः प्रचयं गमिष्यतीति। तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबन्ध।

निःश्रेयसं च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकादात्मज्ञाननिष्ठारूपाद्धर्माद् भवति। तथेममेव गीतार्थधर्ममुद्दिश्य भगवतैवोक्तम्—'स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदनम्' इत्यनुगीतासु। किं चान्यदपि तत्रैवोक्तम्—'नैव धर्मी न चाऽधर्मी न चैव हि शुभा-

शुभौ, यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन्' इति; 'ज्ञानं संन्यासलक्षणम्' इति च। इहाऽपि चान्ते उक्तमर्जुनाय—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इति।

अभ्युदयार्थोऽपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो वर्णाश्रमांश्चोद्दिश्य विहितः स च देवादिस्थानप्राप्तिहेतुरपि सन्नीश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिवर्जितः। शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते। यथा चेममर्थमभिसन्धाय वक्ष्यति—'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि यतचित्ता जितेन्द्रियाः। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।'

—शंकराचार्यः (गीताभाष्योपक्रमणिका)

१६—पितृवत् परकन्यासु

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च।
तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद्भर्गो नराकृतिः॥

तोरणदुर्गे तु रसनारी काभिश्चन मूर्च्छितप्रायाभिरुत्थाप्य समानीताभिः पुनः प्राप्तसंज्ञाभिः चेटीभिः महिला, मञ्चासन्दी-पल्यङ्कवितानतूलिकोपबर्हादिसकलपरिच्छदपरिष्कृतायाम् अतिरम्यहर्म्याट्टालिकायामवरुद्धा—'क्वाऽऽयाता? केन संयता? किं भाति?' इति किमपि न वेत्ति स्म। तत्परिचर्यायामितरा

महाराष्ट्रदेशीया अपि दास्य आसन्, किन्तु ता अपि रसनार्या बहुश प्रलोभिता अपि सप्रश्रय पृष्टा अपि तेषु तेषु विषयेषु वाचमेव न यच्छन्ति स्म ।

'क एवमाद्रियते ? कस्य कक्षे आपतिता ? कोऽधुनापि मर्यादा न भनक्ति ?' इति तया किमपि ज्ञातु न शक्यते स्म ।

अथैकदाऽट्टालिकाया पर्यटन्त्या, दक्षिणस्या सुदूर विस्तृताना काननानाम्, अभ्रलिहाना शैलशिखराणाम्, कपोतानाम्, क्रौञ्चानाम्, कुरराणा च शोभा पश्यन्त्या अकस्मादश्वावि पादध्वनिरिव बहूनाम् । झटिति तत आगत्य द्वारोपरिस्थगवाक्षाच्चाऽऽलोकितवती यदेक ईषच्छ्यामल सुन्दरो मरकतमणिमहामालालसितगलकमनीयो युवाऽऽगच्छतीति । एष एव च सम्बोभोति पातवृद्धोऽस्मल्लुण्ठकगणस्येति मन्यमाना, किञ्चिद् भीतेव, स्तब्धेव, खिन्नेव, क्षुभितेव, उद्विग्नेव च सा समवित्त ।

अथ रसनारी स्वोपवेशदेश प्रविश्य स्विन्ना गण्डस्थली यावत्पटान्तेन परिमार्ष्टि, तावत्प्रतिसीरामुत्क्षिप्य झटिति प्रविश्य शिरोनमनपुर सरमादराचार विदधदवलोकित स एव वीरवर । इय तमादराङ्कुर्त, तद्वचनसुधाधारापिपासिताभ्यामिव कर्णाभ्या परमकातानताजडीकृताभ्यामिव नयनाभ्या चित्रार्पितेवाभूत् । महाराष्ट्रराजस्तु बद्धकरसम्पुट समवतत । न च बिन्दुमपि विसर्गमपि चाब्रूत । तत पराधीना तदाकारसौजन्यलावण्यगाम्भीर्यादराचाराद्यवलोकनमोहिता रसनारी स्वयमेवारभ्य एवमालपत् ।

रसनारी—आगम्यनामियमासन्दी सनाथ्यताम् ।

शिवराज —यदाज्ञाप्यतेऽत्रभवत्या ।

[इत्येकस्यामासन्द्या महाराष्ट्रराज, अपरस्या रसनारी, सार्द्धहस्तोच्छ्रायाया कौशेयवसनाच्छन्नाया सजलकुसुमस्तवकालङ्कृतमध्याया-

वर्तुलपीठिकायाः प्राक् प्रत्यक् चोपाविशताम् ।]

रसनारी—वीर, अतिसमादृताऽपि सुखं स्थापिताऽपि दुःखिताऽस्मितमाम्, यतो यत्नैरपि न ज्ञातुमशकं निजधन्यवाद-भाजनं धन्यधन्य कमपि मान्यवदान्यम्; यत्प्रदत्तं द्राक्षादाडिम-जातमास्वादमास्वादं केकिकेकाकोकिलकूजितानि श्रावं श्रावं दर्शं दर्शं चोत्यकाशाड्वलेषु शम्बरशल्लकीशशकशिवापलायनानि दिनानि गमयामि ।

शिवराजः—आर्ये, अपि कस्यापि महाराष्ट्रवीरस्य शिव-राज इति नामधेयं श्रीमत्या कर्णशष्कुलीमस्पार्क्षीत् ?

रसनारी (क्षणं चिन्तयित्वेव)—किं पार्वतोन्दुरुः शिव इति ?

शिवराजः ('दिल्लीकलङ्का वराका एते मां पार्वतोन्दुरु-मेवाऽऽख्यान्ति' इति स्वगतमेव विचार्य किञ्चिद् ह्रीण इव पुन-रुन्नतीभूय)—भद्रे, महाराष्ट्रराजः शिववीरः ।

रसनारी (सशोच्यन्)—तत्किं पार्वतोन्दुरुः कोऽप्यन्यः ?

शिवराजः—अत्रभवती न वेत्ति मर्मैतस्य । अस्माकं सदैव युद्धानि भवन्ति श्रीमत्यास्तातचरणैः सह । वयं सदैव तान् विजयामहे । तदीयानि कदर्याणि आचरणान्यवलोक्य च 'दिल्लीकलङ्का इमे' इति कथयामः । ते च दग्धहृदया अस्मान् 'पार्वतोन्दुरुन्' प्रचक्षते, परन्तु यथा तव तातस्तत्र राजा, तथा शिववीरोऽत्र राजा । तव तातस्य प्रजासु तु, तेषां दारा अपह्रियन्ते, येषां देवमन्दिराणि निपात्यन्ते, येषां च तीर्थस्थानानि बला-द्विलोप्यन्ते, ते प्रतिप्रभातं प्रतिसायं च बाष्पवारिविन्दुसन्दोहै-राननं क्षालयन्तः, दग्धहृदयाः, वमद्धमद्धमनीधावमानरुधिरधारा-दुर्धर्षवदनाः, हस्तावुन्नमय्य तव तातस्योच्छेदाय शपन्ते । शिव-

राज-राज्ये तु प्रजा प्रतिक्षणमाशीराशीनुच्चारयन्ति । त्वत्पितृ-राज्य बहिरेव, न तु प्रजानामन्त करणे । शिवस्य तु राज्य महाराष्ट्रदेशीयप्रजानामन्तर्बहिश्च ।

रसनारी (सलज्जम्)—तत किं शिवराज्ये यवना अपि मोदन्ते ?

शिवराज —सर्वासा प्रजाना समान एव मोद , न भवति शासनकाले जातिनामाद्युट्टङ्कनमावश्यकम् ।

रसनारी—तत किमित्यहमपहारिताऽस्मि ?

शिवराज —मा स्म भूच्छ्रीमत्या काचन बलात्कारभीति । बहुभी रुधिरप्रवाहैर्भगवती विश्वम्भरा स्नापिता, बहवश्च युद्धाहतवीररमण्यो रोदिता , इति यदि भवतीमाश्रित्य भवत्या पित्रा सह सन्धातु शक्येत, तद्यत्नायैव समानीता मङ्गल-मय्यत्र भवति । नैतद् मौद्गलराज्यम्, यत्र प्रजानामपि भवेद् बलात्कारसाध्वसम् । अत्र तु महाराष्ट्राणा राज्यम्, यत्र परि-पन्थिनामपि युवजनमनोमोहनेनातिमधुरेण कौमारात् परेण वयसाऽऽलिङ्गिता अपि सौन्दर्यसारविरचिता इवापि दुहितर सम्मान्यन्ते, न त्ववहेल्यन्ते । अत्र भवत्येवात्र प्रमाणम् ।

रसनारी (तद्वाकर्ण्य शिरो नमयित्वा, अपाङ्गक्षिप्तलोलतार-लोचनेन शिवमुखमसकृदीक्षमाणा, उरोजयो स्रस्तमिव वस्त्र पुन स्कन्धयो क्षिप्त्वा)—अथ क्वासौ महाराष्ट्रराजो मोदितसकल-समाजो रणधीर शिववीर ? त दिदृक्षत एष जन ।

शिवराज (समुत्थाय)—एषोऽत्र भवत्या सम्मुख एव बद्धकरसम्पुट उपतिष्ठते शिव । तदाज्ञाप्यता काचन सेवा ।

रसनारी (ससम्भ्रममुत्थाय)—आ ! एवमेतत् ? अपि श्रीमानेव महाराष्ट्रराज , यो मामेव धृष्टवादिनी मनोरमै-

र्नर्मालापैर्लज्जयते ? उपविश्यतामुपविश्यताम् ! मनसाऽप्यकल्पनीयोऽयमीदृशः स्वभावः, यत् सपत्न्योऽप्यादरेष्वेव सयत्नो भवान् ।

ततः परमुपविष्टयोर्मुहूर्तं यावद् बहव आलापास्तयोः परस्परं चकितयोर्मुदितयोरनुरक्तयोश्चाभूवन् ।

—अम्बिकादत्तव्यासः (शिवराजविजयः)

१७—वृक्षाणां परिषत्

वृक्षाणां परिषदियम् । अत्राश्वत्थो वक्ताऽपरे श्रोतारः । निरन्तरमहमामाद्ययमेतेषां भाषासु सम्यगभिज्ञ एव । तद् यदि भवद्भ्यो रोचेत वयमेतेषां प्रजल्पनमनुवदामः ।

सञ्चालितपल्लवकराग्रः सुमहानश्वत्थो वदति—भो भो वनस्पतिकुलप्रदीपा महापादपाः, कुसुमकोमलदन्तरुचो लताकुलललनाश्च, सावहिताः शृण्वन्तु भवन्तः । अद्य मानववार्तैवास्मत्समालोच्यविषयः । मानवा नाम सर्वासु सृष्टिधारासु निकृष्टतमा सृष्टिः । समन्तादभिनवोत्तरविलक्षणसृष्टिमुत्पादयता भगवता जगत्सवित्रा यादृग् बुद्धिप्रकर्षः सृष्टिनैपुण्यं च

प्रदर्शनम्, मानवमर्ग विदधता पुनरनेन तत्सर्वमेकपद एवाप-हारितम्।

प्राक्तनकर्मप्रभावाज्जडत्वमापन्नानामस्माकं वार्ता ताव-दस्तु दूरे, जीवसृष्टिप्रवाहेषु मानवा इव परप्रतारका स्वार्थ-साधनपरा मायाविन कपटव्यवहारकुशला हिंसानिरता जीवा न विद्यन्ते (सर्वे स्वशाखाधर्षण कुरवा आनन्द सूचयन्ति)। भवन्तो नित्यमेवारण्यचारिण सिंहव्याघ्रप्रमुखान् हिंस्र-स्वभावतया प्रसिद्धान् श्वापदानवलोकयन्ति प्रत्यक्षम्, तेषा नित्यनैमित्तिकनियाकलापांश्च पश्यन्ति, ततो भवन्त एव सानुनय पृच्छ्यन्ते—कथयन्तु भवन्त याथातथ्येन किमेते हिंसादि-क्रियासु मनुष्येभ्यो भृशं गरिष्ठा ? श्वापदाना हिंसाकर्म किल प्रवृत्तितानयमोद्दीप्तजठरानलनिर्वाणमात्रप्रयोजनकम्, क्रूरचेष्टि-तानि च स्वोदरपूर्तिपर्यन्तावसानानि। प्रशान्ते तु जठरानले मकृदुपजातायां स्वोदरपूर्तौ नहि ते करतलगतानपि हरिण-शशकादीनुपघ्नन्ति, न वा तथाविधदुर्बलजीवघातार्थमटवीतोऽटवी समुद्गत पारभ्रमन्ति, प्रत्युत मुनिव्रता इव शान्तभावमापन्ना निश्चेष्टा विविक्तविजनप्रदेशमाश्रित्य विश्राम्यन्ति।

मनुष्याणां हिंसावृत्तिस्तु निरवधि। पशुहत्या तु तेषामा-खेटनम्, केवल विक्रान्तचित्तविनोदाय महारण्यमुपगम्य ते यथेच्छ निर्दयं च पशुघातं कुर्वन्ति। मनुष्या यथा मृगयामपदिश्य हिंसावृत्तेश्चरितार्थता सम्पादयन्ति, हिंस्रस्वभावा अपि श्वापदा-श्चित्कदाचित् मनुष्यालयमाविश्य तादृशमतिदारुण कर्म समनु-तिष्ठन्ति ? (सर्वेषां करतलघोषम्)। यथेह्यिकसुखलिप्सया मनुष्या ससुत्साहेन जीवहिंसा सम्पादयन्ति करुणस्यातिनिष्ठुर

क्रूरभावं प्रकटयन्ति, पारत्रिकविशुद्धनित्यसुखप्राप्त्याशयापि ते तथैव महोत्साहेन महोत्सवपूर्वकं स्वाभीष्टदेवताग्रतः सर्वथा-निरपराधान् रोरुद्यमानानासन्नमृत्युशङ्कावेपमानकलेवरान् पशून् बलादुपहृत्य स्वहृदयस्यातिकर्कशनृशंसतायाः परिचयं ददति। वस्तुतस्तेषां पशूपहारव्यापारमालोक्य जडानामप्यस्माकं विदीर्यते खलु हृदयम्।

पशूनां न केवलं भक्ष्यनियमस्तृप्तिश्च तेषामनायाससाध्या, ते स्वोदरपूर्तिमात्रपर्याप्तं भक्ष्यवस्तु समधिगत्यैव परमां परितृप्तिं लभन्ते, नाधिकमाकाङ्क्षन्ति। भक्ष्यवस्तुनीवान्यत्र विषयेष्वपि सुलभः खल्वमीषां तृप्तियोगो यस्तावन्मानवेषु सुदुर्लभ एव। तृप्तिलाभस्तु न विलिखितो विधात्रा मनुष्यभाग-धेयेषु। निरन्तरमात्मोन्नतिमभिविधित्सवोऽव्याहतलोभविक्षो-भितहृदया मनुजन्मानः किल प्रतिक्षणं स्वार्थसाधनाय सर्वात्मना प्रवर्तन्ते, न धर्ममनुधावन्ति, न सत्यमनुबध्नन्ति, परं तृणवदुपेक्षन्ते स्नेहम्, लोष्टवत् परित्यजन्ति शौचम्, अहितमिव परिहरन्त्या-र्जवम्, अमङ्गलमिवोपघ्नन्ति विश्वासम्, न स्वल्पमपि बिभ्यति पापाचारेभ्यः, न किञ्चिदपि लज्जन्ते मुहुरनृतव्यवहारात्, न हि क्षणमपि विरमन्ति परपीडनात्, न वा कदापि विमुखीभवन्ति महतोऽप्यकृत्यात्, केवलं सिसाधयिषन्ति स्वार्थम्। यथायथैव स्वार्थसिद्धिर्घटते तथातथैव परिवर्धतेऽमीषां गरीयसी विषय-पिपासा।

न केवलमेते पशुभ्यो निकृष्टास्तृणेभ्योऽपि निस्सारा एव। तृणानि खलु प्रचलवात्योद्गमाव्यवहितपूर्वक्षणपर्यन्तं न किञ्चि-न्मात्रं विचलन्ति, न वा स्वल्पमात्रमपि विकम्पन्ते, किन्तु निर्भी-

कानीवाविशङ्कितचित्तानीव सर्वथा सुस्थिराण्यवतिष्ठन्ते, किं च वात्यया सह स्वशक्तितः सुचिरमभियुध्य सम्मुखसमरप्रवर्तमाना वीरपुरुषा इव शक्तिक्षये क्षितितले निपतन्ति, न तु कदाचित् कापुरुषा इव स्वस्थानमपहाय द्रुतं प्रपलायन्ते। मनुष्याः पुनः स्वचेतसाऽग्रत एव सुदूरभविष्यत्कालसङ्घटिष्यमाणं कर्मापि विपत्पातमात्रं लक्ष्य परिकम्पमानकलेवराः भीतभीताः निरन्तरगुरुचिन्ताक्रान्तहृदया दुःखदुःखेन समयमतिवाहयन्ति, परिकल्पयन्ति च पर्याकुलाः बह्वायासैर्बहुविधान् प्रतीकारोपायान्। येन मनुष्यजीवने शान्तिसुखं मनोरथपथादतिक्रान्तमेव। अथ भवितव्यताया अवश्यम्भावितया दुर्लङ्घ्यतया च नियतिनियमात् तेषां सर्वप्रतीकारप्रयत्नान् विफलीकृत्य यदि कदाचित् समापतति तावत् तथाकथिताऽऽपत् तदा तेषामेव पद गवाल्मर्धत्ते विद्यावत्ताभिमानः, खर्वीभवति तीक्ष्णबुद्धिनैपुण्यप्रभवो गर्वः, प्रलीयते च परिकल्पितात्मसर्वज्ञताशामुदितः सुमहानहङ्कारः। ततश्च समुदेति सद्य एव कोऽपि किंकर्तव्यविमूढभावजननो हृदयावसादः, भृशं परिक्षीयते चिरपोषिता नास्तिकत्वबुद्धिः सुदूरमपगच्छति च सा परमेश्वरप्रतिद्वन्द्विता, येन ते तदानीमात्मत्राणाय बद्धाञ्जलयः साश्रुनयनाः प्रणमन्तः करुणं विलपन्तश्च शरणं समुपयान्ति जगच्छरण्यं जगदीश्वरम्, समुपासते च श्रद्धया निराकारस्याप्यस्य बहुविधाः परिकल्पिताः मूर्तीः। परित्यजन्ति च सर्वविधामात्मभग्नाम्। भवन्ति च तथाविधावसरे अवश्यरक्षितव्यान् पुत्रकलत्रादिस्वजनान् विहाय 'आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि' इति नीतिमनुसरन्तः आत्ममात्रपरित्राणपरायणाः। किमतः परमस्योपासमारताप्रतिपादने प्रमाणान्तरापेक्षा वर्तते। अथ ये तावत्तृणेभ्योऽप्यसाराः पशुभ्योऽपि निकृष्टतरास्तृणादिसृष्टेरनन्तरं तथाविधजीवनिर्माणे विश्वविधातुः कीदृशं नाम बुद्धिमत्ताप्रकर्षं प्रकटयति ? (सर्वेषामुच्चहासः)

इत्येवं हेतुप्रमाणपुरस्सरं सुचिरं बहुविधं विशदं च व्याख्याय सभापतिरश्वत्थदेव उद्भिज्जपरिषदं विसर्जयामास। वयमपि तामश्वत्थव्याख्यातां मानवचरितस्यासारतां मुहुर्मुहुर्विभावयन्तो विस्मयमानमानसाः स्वगृहं प्रति प्रस्थिताः। यथा दृष्टं श्रुतं च निवेदितं प्रियपाठकेभ्यः।

—हृषीकेशशास्त्री भट्टाचार्यः (प्रबन्धमञ्जरी).

१८—क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते

यथा यथाधिकायासः पुण्यवृद्धिस्तथा तथा।
पुण्यं हि सात्त्विकं नूनमशक्यमपि साधयेत्॥

अवसितप्रायो दिवसः।

अस्ति निविष्टं मणिमयगिरिमेखलायाः किञ्चिदाराख्यग्रामस्य च मध्ये क्वचिद्विविक्तस्थले कस्यचिद् ग्रामीणस्य कुटीरमेकम्। प्रदोषेऽस्मिन् काचिद्रूपयौवनसम्पन्ना हिमानाम्नी युवतिः सृष्टिसौन्दर्यमालोकयन्ती कुट्या वहिश्चिनारनाम्नस्तरुविशेषस्यालवालं परितो रचितायां वेदिकायामुपविष्टासीत्। दरीदृश्यते तस्याः पुरः कुटिलः पन्था यः शालिक्षेत्रादारभ्य कारवाहीगुल्मेष्वन्तर्हितस्तस्च पुनः सुदूरं दृष्टिगोचरो भवति। नेदीयसः परःशतपादायतस्य गिरेरधस्तात्सुदूरं प्रसृतः प्रचण्डो जलप्रवाहः प्रतिबध्नतःप्रस्तरान् शकलीकुर्वन् फेननिकरो-

दृगारभासुरो निर्झरझर्झरनिनादेन दिगन्तमापूरयन्निवासीत्। आस्तामुभावपि पार्श्वौ पर्वतस्यावृतौ नानाविधपुष्पितवन्यगुल्मैर्नन्दनवनरमणीयताविडम्बिभि। अतिमनोहरं हिमालयस्याद्भुतसौन्दर्यं दर्शं दर्शं विस्मृत्यात्मानं हिमा गाढं समाहितेव तस्थौ।

अथ यावत्तरुणी दीर्घं निःश्वसिति तावत्तस्या माता पृष्ठतः समुपेत्य तारस्वरेण पप्रच्छ—'हिमे, अयि किं चिन्तयसि वचनं सर्वथा तस्य मूढमतेस्तापसस्य श्रीनगरनिवासिनः ? निमित्तज्ञोऽयं धर्मकञ्चुकीति निश्चिनोमि।'

हिमा—मातः, किमिति वृथा तापसमुपालभसे ?

वृद्धा—अपि तेन मनिश्चयं ज्ञापितासि तव पत्युरम्बुजस्य सकेतस्थानमुद्दिश्य। अम्बुजस्य वृत्तोपलब्ध्यै गतवत्यहं सह त्वया तत्सविधे, न पुनस्तद्विचित्रमुखावलोकनाय। आः, वञ्चक एवासौ। पितापि तस्य त्रिंशे वर्षे परिभ्रमणसक्तो भार्यां मासजातापत्यं च विसृज्यामरनाथयात्रायद्धादरो गेहान्निर्गतो न पुनर्निवृत्त इति श्रुतमस्माभिः। गेहिनी तस्यानवरतनयनाम्बुधारा वर्षन्ती शोकानलेन प्लुष्टेव स्वशिशुं ग्राहितास्बुजनामकं तदानीमेकाब्ददेशीयं कस्मैचित् सुहृदे समर्प्य दिवं गतवतीत्यपि सुविदितमेव नौ।

हिमा—परं चिरात्तिरोहितस्य पितुरन्वेषणैकधिया प्रस्थितो हिमाचलं प्रति तव जामाता, न तु विहारसुखोपभोगाय न वा पर्यटनासक्त्या।

वृद्धा—प्रवृत्तिरीदृशी वरापरम्परागतास्तीति न सन्देहः। वत्से, वृद्धाया मे वचः शृणु तावत्। अतिशीत्यादावां न यावच्छिन्नायिते भवावस्तावदेव श्रीनगरं निवर्तिष्यावहे।

हिमा (सविस्मयम्)—किम् ? इयद् दूरमागत्य निवर्तिष्यावहे ? मातः, प्रोक्तमेव मयाऽमकृत्यन्न कोऽपि जगतीतले मत्प्रतिज्ञां मिथ्याकर्तुं प्रभविष्यतीति। तस्मादल निषेधवचोभिः।

वृद्धा (किञ्चित्कुपिता)—मूढासि त्वं यत्पराधीनेऽपि विषये एवंविधा प्रतिज्ञा कृता त्वया। अतो गम्यतामेकाकिन्यैव। निवर्तिष्येऽहमितः श्रीनगरम्।

× × ×

ततश्च पर्वतश्रेणीतः पर्वतश्रेणीम्, अटवीतोऽटवीम्, शिखराग्राच्छिखराग्रम्, अधित्यकातोऽधित्यका समुल्लङ्घ्य निर्भयं सनिश्चयं प्राचलत् प्रगल्भेयं तरुणी। पर्यन्ते श्रीमदमरनाथगुहाया बहिःस्थाधित्यका दृष्टिगोचराऽभूत्। ततो यावत् पिसुनाम्नः शैलस्योत्सङ्गे स्मयमानशेषनागाख्यसरोवरमवलोकयन्त्यधित्यकां समुपैति सा, तावद् बृहदक्षोट्टद्रुमस्याधो ध्यायन्तं कञ्चित्तापसवृद्धं व्यलोकयद्धिमा। प्रदोपस्यैधमानान्धकारे निष्प्रभनीललोहितपर्वतच्छायाभिर्घनीभूते स प्रवयर जीर्णपर्णमिव वलितपीतवर्णास्य आनाभिविलम्बमानसितसान्द्रकूर्चो भस्मधूलिरूपितजटाजूटकोऽशिथिलाकुञ्चितगात्रो दाक्षिण्याङ्कितललाटो भद्रतयेव स्नातशरीरो भ्रूमध्यस्थापिताचलदृष्टिः शताधिकवर्षदेशीयः पुरातनकालप्रतीक इव समुदलसत्।

हिमायाः पदन्यासशब्दमाकर्ण्यैतद्योतमानं नयनयुग्ममुन्मील्यान्वयुङ्क्त तां—'वत्से, कुतः प्रतिपन्नं त्वयेदमतिक्लेशकरं प्रयाणम् ?' इत्यनुयुक्तया युवत्या तस्य तेजस्विमुखमण्डलं निपुणं निरीक्ष्यमाणया श्रीनगरकृतावासस्य तापसस्य सन्देशो निवेदितस्तस्मै। निःशब्दं रुदित्वा शनैः शनैः स्खलिता-

क्षरं स्वीयमितिवृत्तं तस्मै न्यवेदयत्—चिरादन्तर्हितस्य भर्तुर्वार्ताम्, तद्वियोगवेदनाजन्यं दुःखम्, निजं पर्यटनाभिषङ्गं च। योगीन्द्रोऽभिनन्द्य तत्सङ्कल्पम्, इङ्गितेन समीपवर्तिनीं निम्नपटलां निजकुटीं तस्यै निर्दिष्टवान्। सव्रीडं दोलायमानमानसामेतां साग्रहं समार्द्रंव चाभाषिष्ट—'बाले, प्रविश्यतां कुटीरमिदं निर्भयमाप्रातश्च विश्रान्तिसुखं नेष्यताम्' इति। तत्कारुण्येन प्रफुल्लहृदया तरुणी प्राविशत् कुटीम्, विस्तृत्य चास्तरणं भूमौ सपदि गाढनिद्रया गृहीताभूदानिशीथम्।

ततश्च गवाक्षान्तर्निविष्टसुधाकरकरचुम्बितानना जागरितेव शय्यां विसृज्य कुटीराद् बहिः स्थित्वा कौमुदीदुग्धप्रवाहपूरधवलितं काननमालोकयन्ती विधातुः सृष्टिचमत्कारेण परवशीभूतासीत्। सरवत्तनीतेऽस्मिन् शेषनागसरोवरे रजन्यां ध्यानपरा वृत्तिः प्रतिबिम्बितासीत्। आलोकस्यास्यात्यद्भुतरमणीयत्वपराधीनायास्तस्या विचारमग्नाया समापतत् स्मरणं चिराद्व्यतीतानां वर्षाणाम्, स्वभर्तृसनाथीकृतस्वगेहस्य, आत्मीयस्वल्पकालस्थायिवैवाहिकजीवनयात्रायाः, अब्दपञ्चकतः पूर्वं संवृत्तस्याग्रजस्य प्रस्थानस्य मन्दिरात्। दूरस्थाधित्यकातस्तस्य स्वरप्रतिध्वानरश्रावीनि च सा व्यभावयत्। भावनेयं तु क्षणिकस्वप्न इव विनष्टाऽभूत्पुनश्च गाढनिःशब्दता शर्वर्यां सर्वतः प्रासरत्। शीतशीतोषःकाले योगीन्द्रं पूर्वेद्युरिव ध्यानावस्थितमद्राक्षीत् सा। सन्ध्यायामस्यान्तरायो मा भूदिति यावत्सा पुनश्चलितुं प्रवर्तते तावन्मुनेर्नयनयुगमुन्मीलितं वलितानने चास्य किञ्चिन्मन्दस्मितमाविरभूत्। कृतज्ञताभरपुरस्सरमापृच्छमाना युवतिं मुनीन्द्रोऽभाषिष्ट—'वत्से, याहि पुरः। शश्वत्स्थास्यति तव पुण्यम्। शिवास्ते सन्तु पन्थानः। सर्वथा स्वस्ति वितरन्तु ते

देवाः' इति ।

× × ×

अथ पर्यन्ते नानाविधविलक्षणभावनाभङ्गिप्रवाहपूरप्लावितान्तरा श्रीमदमरनाथस्य गुहान्तिकं सम्प्राप । आसीद्विशालस्थल्यां कन्दराद् बहिर्यात्रिकजनार्णवः—क्वचिच्छततशः परिणतवयस्काः कुथटिताङ्गयष्टयः, क्वचित्परःसहस्राणां ब्राह्मणानां समूह इतस्ततो यात्रिकेभ्यो धनाशया साहाय्यं चिकीर्षुः, क्वचित्परःशतानामन्धपङ्गुमूकबधिरादिभिक्षुकाणां व्रातो जीर्णचीवरवेष्टिताङ्गः कम्पमानः, क्वचिदनेकेषां परदेशीयानां समुदायो निवर्तमानः श्रीनगरम्, क्वचिदर्भकाः शिशवः स्वस्वमातृनितम्बलग्नाः ।

बधिरीकृतनिनादभयाक्रान्तं तत्क्षणं युगपत्प्रायोऽनेकरन्ध्रेभ्यो निर्गत्य कपोतवृन्दं समुड्डिड्ये बहिः कन्दरात् । तत्र च ज्वलद्धूपसौरभजातम्लानगात्री तां पुनरुद्जीवयदिव । न चिरात् सा पटान्तेन सवाष्पनयने प्रमृज्य यावत्समुत्तिष्ठति तावत्पृष्ठतः सा चकितचकितेव प्राचलत् । तस्यौ हि पार्श्वे बद्धनिष्ठां तां सकौतुकं निरीक्षमाणः प्रवया योगीन्द्रो येन स्वकुटीरे कतिपयदिनेभ्यः पूर्वं प्रदत्ताश्रयासीत् सा । 'धन्या ते धर्मनिष्ठा ! भगवानमरनाथस्तवाभीष्टं सफलीकुर्यात् । वत्से, बहुतिथं कालमद्यापि जीविष्यसि । देवा हि तरुणजीवनध्वंसनमवलोकयितुं नोत्सहन्ते खलु । अनुसर मां तावत् । स्वयमेव द्रक्ष्यसि मत्प्रतिपादनस्य तथ्यताम् ।' इत्युक्त्वा गुहायाः समीपवर्तिष्वनेककुहरेष्वेकं प्रति प्राचलत् स मुनीन्द्रः । सा च जोषं तमन्वसरत् ।

क्षणान्तरं प्रविश्य तत्र यवपीठिकाकारां बृहत्तमामेकां हिम-

शिला समुपेतवन्तावुभौ । ततस्तुषारराशिमङ्गुल्या निर्दिश्य प्राह वृद्धतापस —'वत्से, पश्येमम्' इति । अधश्च सा विलोक्य सद्यो विस्फारितलोचना स्थगितेव क्षण जडीभूतेव तस्थौ । ततश्च व्यलपत्—'अहह मम दयित, मम दयित, इति । अथमन्नगात्री मुक्तकण्ठमरोदीद् विलोक्य हि हिमाचलयोरभ्यन्तरे निवेशित कस्यचित्तरुणस्य पञ्चविंशतिवर्षीयस्य कलेवरम् । पञ्चभ्योऽब्देभ्य पूर्वं गृहात् प्रस्थितोऽम्बुजो यथालोक्यत तथैव किञ्चित् स्मेरानन प्रेतोऽपि ददृशे । झटिति सा ललाटमण्डनायमान सौभाग्याङ्क कुङ्कुम कमलोदरसोदरकरेण प्रमृज्य ग्रीवायाश्च मङ्गलसूत्रमा गमपनीय पार्श्वस्थहिमशिला च सूक्ष्म निष्प्य प्रेतस्य हैम आदनपटोपरि ता न्यधात् । 'अहह हृदयेश्वर, हृदयेश्वर' इ परिदेवमाना शोकपारावारकल्लोलनिक्षिप्तेव सा भूमौ न्यपतत् । साश्रान्निगाराया नश्व विह्वलविवर्णानना हिमवत्पाण्डुवर्णा च समभवत् । क्षणाच्च तद्बाहुपल्लवौ निर्जीवोपाङ्गमिवालम्बेता नि मत्त्वौ ।

'वत्से, वत्से, प्राणिना जीवन जलबुद्बुदस्य भङ्गुरत्वमनुकरोति । अल चिन्तया मृतस्य । भगवतो ध्यान कुरु, निर्वाण चाग्विच्छ' इति योगिवरो युवति सान्त्वयामास । क्रमेण तदीयानने शान्तित्यागादिभावा प्रादुरभवन् ।

अथ यावच्छीतशीतलहैमसमाधिकुहरादुभौ निर्गच्छतस्तावद् प्राप्ता तौ श्यामश्मश्रुल चर्मकञ्चुकधारिण घनलोमनशिरस्क दीर्घदुष्करपर्यटनश्रान्त धूलिलिप्तानन च त्रिंशद्वर्षदेशीय पान्थमेक समायान्तम् । अथ मिथोऽवलोकितमात्रौ तरुणीतरुणौ क्षण सम्भ्रान्तौ स्थितौ । पथिक सहसा पृष्ठतश्चलितस्तत क्षणमात्र साशङ्कमान्दोल्यमानचित्त समाह्वयद्युवतिम्—'हिमे,

हिमे' इति। इत्थं सम्बोधिताऽध्वगस्यानने दृष्टिं स्थिरयन्ती स्थगितेव स्वचक्षुषोरविश्वसतीव च हिमा तस्थौ भूलग्नेव। स च स्वजीर्णपोट्टलिकां भुवि निक्षिप्य सरोमाञ्चं सविस्मय-मवाप्तपरमप्रमोदसन्दोहो झटिति सोज्जम्भ हिमायाः पार्श्व-मासाद्य तां सरभसमुद्धृत्य गाढमाश्लिष्यत्। अवगन्तुमक्षमा विलक्षणमिमं व्यतिकरं युवतिर्भ्रान्तिभ्रान्ताभूत्। स च तामुदा-सीनामवस्थितां क्रियासमभिहारेण सम्बोधयन् प्राह—'प्रेयसि, अपि नाभिज्ञातस्त्वयाहमम्बुजस्तव भर्ता ?' इति तेनानुयुक्ता सा शून्यदृष्ट्या क्षण त सूक्ष्मं निरैक्षत।

ततश्च शिरसा संज्ञां दत्त्वा तस्मै, परावृत्य च समाधिकुहरं पुनः प्राविशत्। पान्थश्च योगीन्द्रद्वितीयः सकुतूहलं तामन्वगमत्। उपेतशवपीठिका सा क्षणं जोष स्थित्वा प्रश्नपूर्वकमिङ्गितैर्व पथिकाय हिमशिलामधिशयानं तरुणस्य समाधिं निरदिशत्। स च प्रेतमालोक्य विस्फारितनेत्रः क्षणं निरूप्य विस्वरमा-क्रन्दत्—'अहो, इमे मे तातपादाः। प्रेयसि, व्यतीतानि पञ्च-वर्षाणि पितुरन्वेषणैकपरायणस्य परिभ्रमतो मे। सर्वेऽपि प्रयत्ना मोघीभूताः। परं हन्त, त्वयाद्य तत्कार्यं सफलत्वं नीतमिति धन्यासि खलु' इत्युदीर्य स निपातितजानुः शिलाया-मुपविश्य करौ सम्पुटीकृत्य साष्टाङ्ग पतितः। ततश्च मुहूर्तं विललाम प्रकामं शान्तिः।

'अहो विधातुः सृष्टेरयमेकतमोऽद्भुतचमत्कारः। त्रिंशत-मब्दान् हि तरुणस्यास्य हिमशय्यायामस्यां कृतपदस्य निरन्तर-प्रस्वापसुखमनुभवत्त इव कालहस्तेनास्पृष्टं कलेवरं स्थितम्' इत्युक्त्वा हिमशिलोपरि निहितां मङ्गलसूत्रस्रजमादाय मुनिः पुनरब्रवीदम्बुजम्—'बधानैतां मालिकां ग्रीवायां ते प्रेयस्याः।

ममागमोऽद्य युवयोरस्यास्तपसा परिणाम' इत्युदीर्य हिमाम्बुजो प्रमोदपारावारप्रवाहपूरपरिलुप्तौ विसृज्य कुहारान्निर्ययौ योगीन्द्र ।

—क्षमाराव, (कथामुक्तावली ६)

१—भद्रं नो वितरन्तु देवाः

'अथर्ववेद' सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय साहित्य की एक अमूल्य निधि है। राष्ट्रीयता, साहस, वीर-गर्जना, उद्बोधन आदि के प्रेरणाप्रद स्थल उसमें स्थल-स्थल पर मिलेंगे। आशा, उत्साह और नई चेतना का संचार करने वाली इन संकलित गद्य-पंक्तियों में प्राचीन वैदिक गद्य की एक झाँकी मिलेगी। इनमें देवों को मनुष्य का रक्षक मानकर उनसे कल्याण की आकांक्षा की गई है। एक स्वस्थ, ओजस्वी दृष्टिकोण से ओतप्रोत हैं इस वैदिक भक्त के ये उद्गार—इनमें दैन्य अथवा हीनता की भावना कहीं नहीं टपकती। हमारी ज्ञानेन्द्रियों की तेजस्विता ही हमारी लौकिक उन्नति का मुख्य कारण होती है। अतः भक्त उनके विकास की, उनकी निर्बाध प्रगति की कामना करता है; कामना ही नहीं करता, इसमें अपना अटूट विश्वास प्रकट करता है।

[पृ० ३३] निर्ऋः—निर्दह् का वैदिक रूप; निःश्वास छोड़ा। अर्मण्यः—ऋ (न)-मन्यः, ऋतम्भरा धियः, सत्यमयी धारणाएँ, भावनाएँ। निर्द्. अर्मण्य. अर्थात् भावनाएँ उच्छ्वसित हो उठीं। ऊर्जा मधुमती वाक्—वाणी वही है जो ऊर्जस्विनी (बलवती) और मधुर हो। इसके बाद के सारे वाक्य भक्त अथवा स्तोता कहता है। मधुमतीः स्थ—(हे मेरी भावनाओ, जिस प्रकार) तुम मधुर हो। मधुमतीं वाचम् उदेयम्—(उसी प्रकार) मैं भी मधुर वाणी बोलूँ। उपहूतो मे गोपाः—मैंने (वाणी के अधिष्ठाता देव) वाचस्पति (गोपा.) की स्तुति की है (उपहूतः)। उपहूतो गोपीथः—मैंने स्वयं वाणी (गोपीथ.=उद्गीथः=गीतम्) की आराधना की है।

---

*व्याख्या पृष्ठ-संख्या के क्रम से की गई है।

सुश्रुतौ कर्णौ —मेरे कानों में मधुर श्रुतियाँ भर जाएँ। **भद्रश्रुतौ कर्णौ** —मेरे कान कल्याणकारी बात सुनें।

भद्र श्लोकं श्रूयासम्—मैं सुन्दर स्तुति (श्लोकम् = प्रशस्ति) सुनूँ। **सुश्रुतिश्च** **हासिष्टाम्**—शोभन श्रुतियाँ तथा कथा-वार्ताएँ (उपश्रुति) से मैं वंचित न होऊँ (मा हासिष्टाम्)। **अहासिष्टाम्**—हा (त्यागे), लुङ् प्रथमपुरुष द्विवचन, यहाँ 'अट्' का 'न माङ् योगे' के अनुसार लोप हुआ है। **सौपर्णं चक्षुः, अजस्रं ज्योतिः** —मेरी आँखें गरुड़ के तेज और अक्षय ज्योति से भरी रहें।

मूर्धा अहं रयीणाम्—मैं प्रेरणाओं (रयीणाम्) का केन्द्र (मूर्धा) बना रहूँ। **मूर्धा समानानां भूयासम्**—(उन प्रेरणाओं अर्थात् विचारों के) उच्छ्वासों का भी केन्द्र बना रहूँ (अर्थात् मेरे विचार और मेरी वाणी एकरूप रहें, जैसा मैं सोचूँ वैसा ही कहूँ)। **समानानाम्**—प्राणानाम्। **रुजश्च** **हासिष्टाम्**—करुणा की अनुभूति तथा संगीत से मैं वंचित न होऊँ। **रुज** =रु+ज =करुणा+प्रसूत। तुलना कीजिए—'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः' (रघुवंश)। **वेन** —वीणा। **मूर्धा हासिष्टाम्**—अन्तर्मुखी भावना (मूर्धा) से तथा बहिर्मुखी वाणी (विधर्मा) से मैं वंचित न होऊँ।

बृहस्पतिः मे आत्मा—आत्मा ही मेरी वाणी का अधिष्ठाता देव (बृहस्पति =सोमा) हो। **नृमणा नाम हृद्यः** —(मेरी वाणी में उसी बृहस्पति की) कलात्मकता और हृदयस्पर्शिता हो। **नृमणा**=नृ+मन्+आ =नृत्यगीत। **हृद्य** =हृदयप्रसूत। **असन्तापं मे हृदयम्**—मेरा हृदय सन्ताप-रहित हो (अर्थात् मेरे हृदय में उठी करुणा की अनुभूति कविता में प्रस्फुटित हो, और इस प्रकार मेरा हृदय निराकुल हो)। **उर्वी गव्यूतिः** —(मेरी वाणी की) पहुँच विशाल हो। **गव्यूति** = गवां+ऊति, अव्+ति =ऊति। **उरु** =विशाल। **समुद्र अस्मि विधर्मणः** —मैं असीम (वि+धर्मन्=अ+सीम) समुद्र बन जाऊँ।

नाभि अहं रयीणाम्—मैं प्रेरणाओं का, भावनाओं का केन्द्र (नाभि =

मूर्वा) बना रहूँ। नाभिः समानानां भूयासम्—मैं उन (प्रेरणाओं, भावनाओं) के उच्छ्वासों का भी केन्द्र बना रहूँ। स्वासदसि (स्व+आसत्+असि)—(हे बृहस्पति)तुम हमारी अन्तरात्मा में आसीन हो। आसत्=आ+सद्+क्विप्। सूषा अमृतः मर्त्येष्वा—हम मर्त्यों में तुम उषा के समान दिव्य ज्योति से पूर्ण (सु+उषा) अमृत (-पात्र) हो।

मा···हासीत्—मैं कभी प्राणों से वञ्चित न होऊँ। सूर्य···पार्थिवेभ्यः—द्युलोक(अह्न—दिव)से सूर्य, पृथिवी-लोक से अग्नि, अन्तरिक्ष-लोक से वायु, मानव-लोकों से यम तथा अन्य पार्थिव लोक-लोकान्तरों से सरस्वती मेरी रखवाली करें। (वेद में मनुष्य के लिए जो 'पञ्चजन' शब्द आया है, वह सम्भवतः इन पाँच भौतिक तत्त्वों का सूचक है।)

स्वस्ति···दोषसश्च—उषाएँ और सन्ध्याएँ मुझे सदा कल्याण से सरसाती रहें। अद्य=अदिति=अखण्ड रूप से, निरन्तर। सर्वा···अशीय—सब रस-धाराओं का मैं सबके साथ उपभोग करूँ। आपः=अपः। सर्वगणः—सर्वे गणैः बन्धुबान्धवैः सह सामान्येन सम्मञ्जन्। अशीय—अश्-ना-ति, अश् का आशीर्लिङ् में उत्तमपुरुष एकवचन।



२—सत्यमेव जयते

यह कथानक 'ऐतरेय ब्राह्मण' से लिया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' का सम्बन्ध 'ऋग्वेद' से है। इसके रचयिता इतरा के पुत्र ऐतरेय महीदास माने जाते हैं।

वेद में लिखा है—सत्येन उत्तभिता भूमिः, अर्थात् हमारा यह पार्थिव जीवन सत्य पर आश्रित है। इसी के उदाहरणस्वरूप हम प्रस्तुत आख्यान को समझ सकते हैं। कथानक से स्पष्ट है कि यज्ञ के बहिरङ्ग अनुष्ठान, विनियोग आदि की अपेक्षा अन्तरङ्ग भावना, हृदय की सचाई का महत्त्व अधिक है। नाभानेदिष्ठ ने किस निर्भयता से

अगरिमा को स्पष्ट कह दिया कि आप लोगों के यज्ञ में यही कुछ दोष रहता है, जिसके कारण आप स्वर्ग के द्वार तक पहुँचकर भी वापस आ जाते हैं। यही निर्भयता, यही निश्छलता, यही सचाई उसने अपने प्रतिपक्षी पुरोहित (कृष्णग्रवासी पुरुष) के प्रति भी बरती और उसका हृदय जीत लिया।

[पृ० ३४] नाभानेदिष्ठ मनु का कनिष्ठ पुत्र था, सम्भवतः पिता का सबसे प्यारा, जैसा कि उसके नाम में ही व्यंजित है—नाभा-नेदिष्ठ, नाभौ नेदिष्ठ, हृदये अत्यन्तसन्नेन स्थित, हृदय के निकटतम। मानव — मनोः अपत्यं पुमान्, मनु का पुत्र। ब्रह्मचर्यं वसन्तम्—गुरोः अन्तेवासिनम्, जो गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन कर रहा था। निरभजन्—निर्+भज्, लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन, भाग में वंचित कर दिया। एत्य—आ+इ+क्त्वा (य=त्य), वापस आकर, गुरुकुल से लौटकर। किम् मह्यम् अभाक्त—मेरे लिए तुमने क्या भाग रख छोड़ा है? अभाक्त (वैदिक) = अभाजयत् (लङ्), अबीभजत (लुङ्), मध्यमपुरुष बहुवचन। निष्ठावम् = (१) निष्ठापालम् तव श्रद्धेयम्, तुम्हारे श्रद्धा-पात्र प्रिय पिता, (२) निष्ठाव, ठाँव करनेवाला, बर्मीयत का बँटवारा करनेवाला। अववदितारम्—(१) निरवदितारम्, निष्ठावम्, (२) अवमन्तारम्, जो हमें सदा नीचा ही दिखाया करता था (उसका प्यार सिर्फ तुम्हारे लिए था)। आख्यान का भाव यह है कि नाभानेदिष्ठ मनु का सबसे चहेता बेटा था, शेष पुत्रों में मनु का उतना प्रेम नहीं था। इसका फल उपेक्षित पुत्रों ने बाप और बेटा दोनों को चखा दिया, सारी सम्पत्ति आपस में बाँट ली। नाभानेदिष्ठ जब अपनी शिक्षा समाप्त करके लौटा, तब उसके भाइयों ने उस पर तरह-तरह के व्यंग्य कसे—"तुम्हें हिस्सा चाहिए? तुम्हारे हिस्से में हमने तुम्हारी सबसे प्रिय वस्तु रख छोड़ी है। आज से 'हमारे' श्रद्धेय पिता केवल तुम्हारे रहेंगे। कितना बड़ा त्याग कर रहे हैं हम तुम्हारे लिए।"

त्वा ह वाव मह्य तत (तात) अभाक्षु—पिताजी, इन्होंने जो बँट-

द्वारा किया है, उसमें (इनके अनुसार) मेरे हिस्से में आप ही आते हैं (यह क्या मजाक है ?)। ह=किल=एते मे भ्रातरः कथयन्ति इति भावः। वाव=वै, ही, अच्छी रही ! तत=तात=पिता; ननु विस्तारे, सन्तान का जनक।

मा पुत्रक तत् आदृथाः—बेटा, इस बात से बहुत चिन्तित न होओ; क्यों व्यर्थ में अपने दिल को दुखाते हो। **अङ्गिरसः···आसते**—ये अंगिरस लोग स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से अखण्ड यज्ञ (सद्+त्र) कर रहे हैं। वा=नाम (क)। **ते·· मुह्यन्ति**—वे हर छठे दिन थककर विचार-मूढ़ हो जाते हैं (अर्थात् पूर्णाहुति की वेला में वे, यज्ञ-शेष का अतीव आस्वादन करने के कारण, मन्त्रादि भूल जाते हैं और इस प्रकार उनका यज्ञ अधूरा ही रह जाता है)। **तान्·· शंसय**—उन्हें (ऋग्वेद के) ये दो सूक्त (१०।६१-२) सुनाओ। (ऐतरेय ब्राह्मण में आया नाभानेदिष्ठ का यह आख्यान ऋग्वेद के इन्हीं सूक्तों पर आधारित है।) **तेषां···दास्यन्ति**—जो हजार (गौओं) का दान यज्ञ की परिसमाप्ति पर उन्होंने पुरोहित को देना (निश्चित कर रखा) है, वह सब वे (तुमसे इस प्रकार सन्तुष्ट होकर) स्वर्ग जाते समय तुम्हें ही देते जाएँगे। **सत्त्रपरिवेषणम्**—यज्ञ के अन्त में परोसी (दी) जानेवाली वस्तु (दान-दक्षिणादि); यज्ञान्ते परिवेषणीयम्=ब्राह्मणेभ्यः दातव्या दक्षिणा। स्व+यन्त=स्वर्गं गच्छन्तः।

तथेति—अच्छा, पिताजी। **तान् उपैत**—(तदनुसार) नाभानेदिष्ठ अंगिरसों की सेवा में उपस्थित हुआ। उपैत=उप+आ+इ, लङ्, प्रथम-पुरुष एकवचन। **प्रति·· सुमेधसः**—हे बुद्धिमान् अंगिरसो, मुझ मनु के पुत्र का अभिवादन स्वीकार कीजिए। **प्रतिगृभ्णीत**—प्रति+ग्रह, लोट्, मध्यमपुरुष बहुवचन (अभिवादयन्तं अनुजानीत)।

किंकामः=कः कामः अस्य स किंकाम; किं काम्यति इति किंकामः, किस इच्छा से (तुम यह कह रहे हो); परन्तु यह अभिवादन तुम कर किस स्वार्थ से रहे हो ? उसने कहा **इदम्·· प्रज्ञापयानि**—यही कि आपके

छठे दिन (की समस्या) को सुलझाने में आया हूँ। **प्रज्ञापयानि**—(प्र+ज्ञा+णिच्) लोट् उत्तमपुरुष एकवचन, प्रज्ञा बोधं दातुम् आगतोऽस्मि। **अथ दत्त**—परन्तु स्वर्ग जाते हुए आप यह गोदान की सहस्र दक्षिणा मुझे देते जाएँ।

तथेति—अंगिरसों ने कहा, हम यह बात स्वीकार है। **ततो वै ते यज्ञं प्र-अजानन्**—और सचमुच (नाभानेदिष्ठ के) इस सुझाव से अंगिरसों की अपने यज्ञ की सब गुत्थियाँ सुलझ गईं। **स्वर्गं लोकं च प्र-अजानन्**—स्वर्ग क्या है, यह भी उन्हें स्पष्ट हो गया। **तद् यदेते अनुख्यात्यै**—अंगिरस लोग ही नहीं, जो कोई भी इस सूक्त का यज्ञ के छठे (अन्तिम) दिन पाठ करता है, वही यज्ञ की महिमा को बखूबी जान सकता है, और स्वर्ग के प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है। (स) प्रज्ञात्यै, अनुख्यात्यै (अलं भवति)=प्रज्ञातुम् अनुख्यातुम् के वैदिक रूप।

तदेनं वास्तुहम्—परन्तु जब नाभानेदिष्ठ उस (सहस्रपरिवेषण) को बटोरने लगा, तब उत्तर दिशा में एक काला-कलूटा ब्राह्मण न जाने कैसे आ टपका और बोला—"यह मेरा है, इस यज्ञ-दक्षिणा का अधिकारी मैं हूँ।" **समाकुर्वाणम्**—सम्+आ+कृ+शानच्, संग्रहं कुर्वन्तम्। **कृष्णशवासिन्**—(१) कृष्णश+वासिन् (काली कमली ओढ़े हुए), (२) कृष्ण+शव+वासिन् (काला-कलूटा और शवों पर निर्वाह करनेवाला अघोरी)। **उपोत्थाय**=उप+उद्+स्था+त्वा, निकट से ही कहीं से, न जाने कहाँ से (टपक पड़ा)। **वास्तुहम्**—वास्तु+हम्, यज्ञाग्नि अवशिष्टम्। हम्=हीनम्, अवशिष्टम्। **तद्वै परिप्रश्न**—मैं चला, हम दोनों के बीच इस झगड़े का निपटारा तुम्हारे ही पिता कर दें। **ननु अबु**—कि सत्य पुत्र, अंगिरस एता दक्षिणा तुभ्यं दत्त्वा एव स्वर्गम् अगच्छन्। ननु, इति प्रश्न।

[पृ० ३५] **इत्यादित**—वगैरह-वगैरह। **तस्यैव पुत्रक तत्**=बेटा, (वह भी ठीक कहता है,) इस दक्षिणा का मूल अधिकारी सचमुच वही है (क्योंकि वह शायद उनका कुल-पुरोहित है)।

भगव (वैदिक)=भगव=भगवन् (सम्बोधन एकवचन)।

३—आचार्योऽन्तेवासिनम् अनुशास्ति

यह भारत के प्राचीन आश्रम-विद्यालयों में दिया जाने वाला दीक्षान्त-उपदेश है। जब शिष्य अपना वेदाध्ययन समाप्त कर चुकता है तब आचार्य समावर्तन-संस्कार के समय उसे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश कर गृहस्थ-धर्म का पालन करने की शिक्षा देता है। गृहस्थाश्रम को ही भारतीय मनीषियो ने सब आश्रमो मे श्रेष्ठ बताया है—**चतुर्णामाश्रमाणा हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्** (वा० रामायण २।१०६।२२), क्योकि गृहस्थ की उदारता पर ही अन्य आश्रमचारी निर्भर रहते है। अत आचार्य शिष्य से कहता है कि अब वह समय आ गया है जब ससार से विरक्त न रहकर उसमे प्रवेश करने की और सदाचारपूर्वक गार्हस्थ्य धर्म का पालन करते हुए समाज-कल्याण मे योग देने की आवश्यकता है। इस उपदेश मे कही हुई बाते चिरन्तन सत्य है, वे सभी देश-काल के विद्यार्थियो के लिए, आध्यात्मिक और सासारिक क्षेत्र मे, पथ-प्रदर्शक है। अकृत्रिम शैली मे, सीधी और सरल भाषा मे, उपनिषत्कार ने वे सारभूत बाते कर दी है, जो हमारी ऐहिक और पारलौकिक उन्नति के लिए अपेक्षित है। क्या आश्चर्य, यदि आज भी काशी, दिल्ली तथा गुरुकुल कागड़ी के विश्वविद्यालयों मे, दीक्षान्त-समारोहो के समय, 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के इस अश का वहाँ के उप-कुलपतियों द्वारा नव-स्नातको के समक्ष उद्घोष किया जाता है!

'तैत्तिरीय उपनिषद्' की गणना उपनिषदो के सबसे प्राचीन वर्ग मे की जाती है। कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध होने के कारण यह 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कहलाता है। इसके तीन खण्ड है, जो 'वल्ली' कहलाते है—शिक्षा-वल्ली, ब्रह्मानन्द-वल्ली और भृगु-वल्ली। प्रस्तुत अश शिक्षा-वल्ली का ग्यारहवां अनुवाक् है।

[पृ० ३५] अनूच्य (अनु + वच्—क्त्वा (य) = अनु + उक्त्वा)—अध्याप्य, अध्ययन कराकर। **अन्तेवासिनम्**—गुरो. अन्ते समीपे वसति इति अन्तेवासी तम्, सप्तम्याम् अलुक्, अपने आश्रम मे रहनेवाले विद्यार्थी

को। अनुशास्ति—ग्रन्थग्रहणाद् अनुपश्चात् शास्ति तदर्थं ग्राहयति इत्यर्थ, (अध्ययन की समाप्ति पर) शिक्षा देता है, उपदेश देता है। यह उपदेश इस प्रकार है—

[सत्य वद—तुम सत्य बोलो। तुलना कीजिए—'सत्यपूत वदेद्वाच मनःपूत समाचरेत्।' धर्मं चर—धर्म का आचरण करो। धर्म के अन्तर्गत कई बातें समाविष्ट की जाती हैं, जैसे—(१) अपने वर्ण-आश्रम के अनुकूल शास्त्र-सम्मत धर्म, (२) कर्तव्य, (३) सदाचार, (४) जीवन के मौलिक नैतिक सिद्धान्त इत्यादि। स्वाध्यायान्—स्वाध्याय से। स्वाध्याय का तात्पर्य वेदों के अभ्यास, सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-जप आदि नित्य-कर्म से है। मा प्रमदः—कभी न चूको, प्रमाद मत करो। स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करना, अर्थात् न तो कभी उसे अनादरपूर्वक करना और न आलस्यवश उसका त्याग ही करना। आचार्याय—गुरु के लिए। प्रियं धनम्—(दक्षिणा रूप में) वांछित धन। आहृत्य (आ+हृ+ल्यप्) आनीय, लाकर देकर। आचार्य से विद्या पाने के उपलक्ष्य में उसे दक्षिणा देकर प्रसन्न करना शिष्य का कर्तव्य है। प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी—आचार्येण च अनुज्ञात अनुरूपान् दारान् आहृत्य प्रजातन्तुं प्रजासन्तानं मा व्यवच्छेत्सी प्रजासन्तते विच्छित्तिर्न कर्तव्या, अर्थात् (गुरु की आज्ञा से अनुरूप स्त्री से विवाह करके) सन्तान-परम्परा को जारी रखो, उसका उच्छेद (नाश) न करो। गुरु का कहना है कि शास्त्रविधि के अनुसार विवाहित धर्मपत्नी के साथ ऋतुकाल में नियमित सहवास करके सन्तानोत्पत्ति का कार्य अनासक्तिपूर्वक करना। वंश-परम्परा को अविच्छिन्न बनाए रखना, भारतीय शास्त्रकारों के अनुसार, गृहस्थ का परम धर्म है। व्यवच्छेत्सी—वि+अव+छिद्, लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन, 'न माङ् योगे' सूत्र के अनुसार मा के योग में अट् का लोप हो गया है। सत्यान्न प्रमदितव्यम्—सत्य से कभी नहीं डिगना चाहिए, प्रमाद न करना, अर्थात् तुम्हें हँसी-दिल्लगी या व्यर्थ की बातों में वाणी की शक्ति को न तो नष्ट करना चाहिए और न परिहास आदि के बहाने कभी झूठ ही बोलना चाहिए। धर्मान्न प्रमदितव्यम्—धर्म-पालन में

भूल नहीं करनी चाहिए, अर्थात् कोई बहाना बनाकर या आलस्यवश कभी धर्म की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। **कुशलात् न प्रमदितव्यम्**—शुभ कर्मों का कभी त्याग नहीं करना चाहिए, उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, अपितु उनका यथायोग्य अनुष्ठान करते रहना चाहिए। श्री राजगोपालाचार्य के अनुसार 'समाज का योगक्षेम करनेवाले कार्यों में से कोई कार्य करो।' भूत्यै—मङ्गलयुक्तात्कर्मण., उन्नति के साधनों से कभी नहीं चूकना चाहिए, अर्थात् धन-सम्पत्ति बढ़ाने वाले लौकिक उन्नति के साधनों के प्रति भी उदासीन नहीं होना चाहिए। **स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम्**—स्वाध्याय: अध्ययन प्रवचनम् अध्यापन ताभ्याम्, अध्ययन और अध्यापन से, पढ़ने और पढ़ाने से (कभी नहीं चूकना चाहिए)। **देवपितृकार्याभ्याम्**—देवकार्य और पितृकार्य से। अग्निहोत्र, यज्ञ आदि का अनुष्ठान देवकार्य है, और श्राद्ध, तर्पण आदि पितृकार्य। इनके सम्पादन में भी आलस्य या अवहेलनापूर्वक प्रमाद नहीं करना चाहिए॥

मातृदेवो भव—माता देव: यस्य स मातृदेव भव स्या., तुम माता को देव-रूप समझनेवाले बनो, अर्थात् माता का देवता की तरह सम्मान करो। उपनिषत्कार का आशय यह है कि माता, पिता, आचार्य और अतिथि, इन चारों को ईश्वर की प्रतिमूर्ति समझकर सदा इनकी आज्ञा का पालन, इन्हें नमस्कार और इनकी सेवा करते रहना, इन्हें सदा अपने विनयपूर्ण व्यवहार से प्रसन्न रखना।

यानि···**सेवितव्यानि**—जो-जो निर्दोष (अनिन्दित) कर्म हैं, उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिए। **नो इतराणि**—दूसरे (दोषयुक्त) कर्मों का कभी आचरण नहीं करना चाहिए। **अनवद्यानि**—न अवद्यानि निन्दितानि इति। **यानि अस्माकं सुचरितानि**—हमारे (आचरणों में से भी) जो-जो अच्छे आचरण हैं। **तानि त्वया उपास्यानि**—उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिए। गुरु के भी सभी आचरण अनुकरणीय होते हों, ऐसा नहीं; जिनके विषय में जरा-सी भी शंका हो, उनका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिए। शङ्कराचार्य कहते हैं—'सावद्यानि शिष्टकृत्यान्यपि नो कर्तव्यानि', शिष्टों द्वारा भी किए जानेवाले सदोष कर्मों

का आचरण नहीं करना चाहिए। **ये के चास्मत् श्रेयांसः (प्रशस्यतराः) ब्राह्मणाः**—जो कोई भी हम से श्रेष्ठ (गुरुजन एवं) ब्राह्मण (तुम्हारे पास) आएँ। **तेषां त्वया आसनेन प्रश्वसितव्यम्**—उनको तुम्हें आसन प्रदान कर विश्राम देना चाहिए। [पृ० ३६] प्रश्वसितव्यम्—एतेषां आसनदानादिना त्वया प्रश्वसितव्यम्, प्रश्वसनं प्रश्वासः श्रमापनयः, तेषां श्रमः त्वया अपनेतव्य इत्यर्थः। अथवा, शङ्कर के अनुसार, 'न प्रश्वसितव्यम् प्रश्वासोऽपि न कर्तव्यः केवलं तदुक्तसारग्राहिणा भवितव्यम्', उनके सामने कोई शब्द नहीं उच्चारित करना चाहिए, जो वे कहते हैं उनका हमें सार मात्र ग्रहण करना चाहिए, उनके साथ अनावश्यक विवाद में नहीं उतरना चाहिए।

श्रद्धया देयम्—श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए। **अश्रद्धया अदेयम्**—बिना श्रद्धा के नहीं देना चाहिए। बिना श्रद्धा के किए हुए दान आदि कर्म असत् माने गए हैं—'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥' (गीता १७।२८)। **श्रिया-देयम्**—अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार देना चाहिए। डा० राधाकृष्णन् ने 'श्रिया' का अर्थ 'प्रचुरता से' किया है। **ह्रिया देयम्**—लज्जा से, नम्रता के साथ दान देना चाहिए। मैं जो कुछ दे रहा हूँ, वह भी बहुत कम है, यह सोचकर, संकोच का अनुभव करते हुए, दान देना चाहिए। मन में दानीपन के अभिमान को नहीं आने देना चाहिए। **भिया देयम्**—भय से देना चाहिए। यह भय राजा का, शास्त्र का या कंजूस ठहराये जाने का हो सकता है (राजादिभयेन, शास्त्रभीत्या, कार्पण्यापवादभयेन वा)। **संविदा देयम्**—मैत्र्यादिकार्येण, मित्रों और सम्बन्धियों की सहायता के रूप में देना चाहिए, अथवा (जो कुछ भी दिया जाए वह सब) विवेकपूर्वक देना चाहिए। ऐसा दान ही सात्त्विक दान कहलाता है। 'दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥' (गीता १७।२०)

विचिकित्सा=सन्देह। **वृत्तविचिकित्सा**—आचारलक्षणे संशय।

अथ···कर्मविचिकित्सा—इसके बाद यदि तुमको कर्तव्य का निर्णय करने में किसी प्रकार की शंका हो। वा वृत्तविचिकित्सा वा—या सदाचार के विषय में कोई शंका कदाचित् (वा) हो जाए तो। ये तत्र ब्राह्मणाः—वहाँ जो ब्राह्मण। सम्मर्शिनः—विचारक्षमा, उत्तम विचारवाले। युक्ताः—अभियुक्ताः कर्मणि वृत्ते वा, (सत्कर्म और सदाचार में) भली भाँति लगे हुए। आयुक्ताः—अपरप्रयुक्ताः, स्वतन्त्र विचारोंवाले। अलूक्षाः (अरूक्षाः का वैदिक रूप)। रूखेपन से रहित, अक्रूरमतयः, अच्छे स्वभाववाले। धर्मकामाः—धर्म के अभिलाषी, धर्मपरायण। स्युः=हों। यथा···वर्तेरन्—वे जिस प्रकार ऐसे प्रसंगों में बर्ताव करें, वैसा ही उन प्रसंगों में तुम्हें भी बर्ताव करना चाहिए।

भाव यह है कि यदि तुमको किसी अवसर पर अपना कर्तव्य निश्चित करने में दुविधा उत्पन्न हो जाए, अपनी बुद्धि से किसी एक निश्चय पर पहुँचना कठिन हो जाए, तुम किंकर्तव्यविमूढ हो जाओ, तो ऐसी स्थिति में वहाँ जो कोई विचारवान्, सदाचारी, स्वतन्त्र प्रवृत्तिवाले, स्नेहशील एवं धर्मात्मा ब्राह्मण (या अन्य कोई वैसे ही महापुरुष) हों, वे जिस प्रकार ऐसे प्रसंगों पर आचरण करते हों, उसी प्रकार का आचरण तुम्हें करना चाहिए। ऐसे स्थलों में उन्हीं के मत्परामर्श के अनुसार उन्हीं के स्थापित आदर्श का अनुगमन करना चाहिए। एषः आदेशः—यह (शास्त्र की) आज्ञा है। एष उपदेशः—यही (गुरुजनों का अपने शिष्यों और पुत्रों के लिए) उपदेश है। एषा वेदोपनिषत्—यही वेदों का रहस्य है। 'उपनिषत्' शब्द स्त्रीलिंग है और रहस्य का वाचक है। एतद् अनुशासनम्—यही (परम्परागत) शिक्षा है। एवम् उपासितव्यम्—इसी प्रकार (तुम्हें कर्तव्य एवं सदाचार का) पालन करना चाहिए।

एवम् उ च एतद् उपास्यम्—इसी प्रकार यह पालन (अनुष्ठान) करना चाहिए। यहाँ शब्दों की पुनरावृत्ति इसलिए की गई है कि स्नातक इन शिक्षाओं का महत्त्व भली भाँति हृदयंगम कर लें। उ=और।

❁

४—ब्रह्म एव महीयते

एक छोटा-सा तिनका। कितना क्षुद्र और नगण्य ! न उसमें कोई सौंदर्य, न कोई शक्ति। बलवानों द्वारा सदा उपेक्षित और तिरस्कृत। परन्तु यह छोटा-सा तिनका भी बड़े-बड़े शक्तिशाली और तेज पुंज अभिमानियों का दर्प-दलन करने की कितनी अमोघ शक्ति रखता है, इसका बड़ा रोचक और शिक्षाप्रद वर्णन 'केनोपनिषद्' की प्रस्तुत कथा में आया है। असुरों पर विजय प्राप्त करने के बाद देवताओं को अपने बल का अभिमान हो गया था। उनके इस अभिमान को दूर करने के लिए परमात्मा एक विशाल यक्ष के रूप में आकाश में प्रकट हुए। देवताओं ने उस यक्ष का पता लगाने के लिए अग्नि और वायु को एक-के-बाद-एक उसके पास भेजा। यक्ष ने इन अभिमानी देवताओं का दर्प दूर करने के लिए एक सूखा तिनका आगे रखकर उसे जलाने और उड़ाने के लिए कहा, परन्तु अपनी शक्ति लगाकर भी न तो अग्निदेव उसे जला सके और न पवनदेव उसे तिल मात्र भी हिला सके। अन्त में इन्द्र के आने पर प्रतीति हुई कि परमेश्वर की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, अतः हम लोगों का अभिमान करना वृथा है।

यह कथा 'केनोपनिषद्' के तीसरे प्रकरण से ली गई है। इस कथा द्वारा उपनिषत्कार ने यह समझाया है कि विश्व में जो कोई भी प्राणी या पदार्थ शक्तिमान्, सुन्दर और प्रिय प्रतीत होता है, उसके जीवन में जो सफलता दीखती है, वह सब परब्रह्म परमेश्वर के एक अंश की ही महिमा है। इस पर यदि कोई अभिमान करता है तो वह बड़ी भूल करता है।

'केनोपनिषद्' का ऐसा नाम इसलिए पड़ा कि इसका पहला मन्त्र केन शब्द से आरम्भ होता है—केनेषितं पतति प्रेषितं मनः (यह मन किससे प्रेरणा पाकर अपने विषयों तक पहुँचता है ?)। यह उपनिषद् सामवेद के 'तलवकार ब्राह्मण' के अन्तर्गत है, इसलिए इसे 'तलवकार उपनिषद्'

भी कहते हैं। इसके प्रथम दो प्रकरण गद्य में हैं और अन्तिम दो पद्य में। 'केनोपनिषद्' की देवता-गर्व-हरण की यह कथा 'देवीभागवत पुराण' में भी आई है।

[पृ० ३६] ब्रह्म ह देवेभ्यः विजिग्ये—ब्रह्म ने ही देवताओं के लिए (असुरों पर) विजय प्राप्त की। विजिग्ये—जि, लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन। ह=ही, निश्चयपूर्वक। तस्य···अमहीयन्त—किन्तु ब्रह्म की उस विजय में सब देवता अपने को बड़ा मानने लग गए, उन्होंने अपने में महत्त्व का अभिमान कर लिया। अमहीयन्त—मह् (च्वि), लुङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन, अमहान्तः महान्तः अभवन्। ते ऐक्षन्त—वे समझने लगे। अस्माकम्··· महिमेति—कि यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है। अभिप्राय यह है कि परब्रह्म ने देवों पर कृपा करके उन्हें शक्ति प्रदान की, जिससे उन्होंने असुरों पर विजय प्राप्त कर ली। यह विजय वस्तुत: ईश्वर की थी, देवता तो केवल निमित्त-मात्र थे, किन्तु इस ओर देवताओं का ध्यान नहीं गया और वे ब्रह्म की कृपा की ओर लक्ष्य न करके उसकी महिमा को अपनी महिमा समझ बैठे और अभिमानवश यह मानने लगे कि हम बड़े शक्तिशाली हैं, हमने अपने ही बल-पौरुष से असुरों को पराजित किया है। तत् ह एषां विजज्ञौ—उस (ब्रह्म) ने इन (देवों) का (भाव) जान लिया। देवताओं के मिथ्याभिमान को भगवान् समझ गए। उन्होंने सोचा कि इससे इनका पतन हो जाएगा। इसलिए देवताओं का दर्प चूर्ण करने के लिए तेभ्यः ह प्रादुर्बभूव—वह ब्रह्म उनके सामने प्रकट हो गया। तब देवता आश्चर्यचकित होकर उस अत्यन्त विशाल रूप को देखने और विचार करने लगे कि यह दिव्य यक्ष कौन है। तत् न व्यजानत किम् इदं यक्षम् इति—वे यह नहीं जान पाए कि यह यक्ष कौन है। यक्षम्=पूज्यं महद् भूतम्, कोई पूज्य महाप्राणी। ब्रह्म अपनी शक्ति से देवताओं के समक्ष साकार प्रकट हो गया—'स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानाम् इन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव' (शङ्कर:)।

ते अग्निम् अब्रुवन्—देवता उस अतिविचित्र महाकाय दिव्य यक्ष को देखकर मन-ही-मन सहम-से गये और उसका परिचय पाने के लिए व्यग्र हो उठे। अग्नि परम तेजस्वी है, इसलिए देवताओं ने इस कार्य के लिए उसे ही उपयुक्त समझा और उससे कहा जातवेद एतत् विजानीहि किम् एतत् यक्षम् इति—हे जातवेद, इस बात का पता लगाओ कि यह कौन है। जातवेदस्=सर्वज्ञ (सर्वज्ञरूपम्), अग्नि समस्त जात पदार्थों का ज्ञान रखता है, जातं सर्वं वेत्ति इति जातवेद। यह नाम अग्नि को ऋग्वेद में दिया गया है। अग्नि देवता को अपनी बुद्धि-शक्ति पर गर्व था, अतः उसने कहा—तथा इति, ऐसा ही होगा, मैं अभी जाकर पता लगाता हूँ। तत् अभ्यद्रवत्—अग्नि दौड़कर उसके समीप गया। उसे अपने समीप खड़ा देखकर तम् अभ्यवदत्—(यक्ष ने) उस (अग्नि) से पूछा—क असि इति—कि तुम कौन हो? अग्नि ने सोचा कि मेरे तेज पुञ्ज स्वरूप को सभी पहचानते हैं, इसने कैसे नहीं जाना, इसलिए उसने तमककर उत्तर दिया—अग्नि वै अहम् अस्मि, कि मैं ही अग्नि हूँ। जातवेदा वै अहम् अस्मि इति—कि मैं ही जातवेद के नाम से प्रसिद्ध हूँ। तब यक्ष-रूपी ब्रह्म ने पूछा तस्मिन् त्वयि किं वीर्यम् इति—कि उक्त नामों वाले तुम (अग्नि) में क्या सामर्थ्य है? इस पर अग्नि ने सगर्व उत्तर दिया—अपि इति—कि मैं इस पृथ्वी पर यह जो कुछ भी है, इस सबको जलाकर भस्म कर दूँ, अर्थात् मैं चाहूँ तो इस सारे भूमण्डल में जो कुछ भी देखने में आ रहा है, सबको जलाकर अभी राख का ढेर कर दूँ। तब उस दिव्य यक्ष ने तस्मै तृणं निदधौ—उसके सामने एक तिनका रख दिया (और यह कहा) एतत् दह इति—कि इसे जला दो। तत् उपप्रेयाय—(उप+प्र+इ, लिट् प्रथमपुरुष एकवचन) वह तिनके पर टूट पड़ा। सर्वजवेन—सर्वोत्साहकृतेन वेगेन, पूर्ण शक्ति लगाकर। तत् न शशाक दग्धुम्—उसे जलाने में किसी प्रकार समर्थ नहीं हुआ। ततः एव निववृते—(तब लज्जित होकर) वहीं से लौट गया (और देवताओं से बोला)—न एतत् अशकं विज्ञातुं यत् एतत् यक्षम् इति—कि मैं यह जानने में समर्थ नहीं

हो सका कि यह यक्ष कौन है। अग्नि में जो अग्नित्व है, दाहिका शक्ति है, वह तो शक्ति के मूल भंडार परमात्मा से मिली हुई है। वह यदि इस शक्ति-स्रोत को रोक दे तो फिर शक्ति कहाँ से आएगी ! अग्नि इस बात को न समझकर ही डींग हाँक रहा था। पर जब ब्रह्म ने अपनी शक्ति को रोक लिया, तब सूखा तिनका भी अग्नि से नहीं जल सका।

अथ वायुम् अब्रुवन्—जब अग्नि असफल होकर लौट आया तब देवताओं ने इस कार्य के लिए अप्रतिम-शक्ति वायु को चुना। [पृ० ३७] **मातरिश्वा**—मातरि अन्तरिक्षे श्वयति इति मातरिश्वा। **एतत् आदत्स्व इति**—इसे उड़ा दो। **आदातुम्**—उड़ाने में।

तदनन्तर देवताओं ने स्वयं देवराज इन्द्र को इस कार्य के लिए चुना। **मघवन्**—हे इन्द्रदेव ! पर इन्द्र के पहुँचते ही **तस्मात् तिरोदधे**—वह यक्ष उसके सामने से अन्तर्धान हो गया। इन्द्र में इन देवताओं से अधिक अभिमान था, इसलिए ब्रह्म ने उसको वार्तालाप का भी अवसर नहीं दिया; परन्तु इस एक दोष के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार से इन्द्र अधिकारी था, अतः उसे ब्रह्म-तत्त्व का ज्ञान कराना आवश्यक समझकर इसीकी व्यवस्था के लिए वह स्वयं अन्तर्धान हो गया। यक्ष के अन्तर्धान हो जाने पर इन्द्र वहीं खड़ा रहा, अग्नि वायु की भाँति वहाँ से लौटा नहीं। इतने में ही **स तस्मिन्** '' **हैमवतीम्**—वह उसी आकाश-प्रदेश में (यक्ष के स्थान पर ही) अतिशय सुन्दरी, हिमाचलकुमारी उमा के पास आ पहुँचा (और बोला कि यह यक्ष कौन था ?)। इन्द्र पर कृपा करके परब्रह्म ने उमा-रूपा साक्षात् ब्रह्म-विद्या को प्रकट किया।

सा ब्रह्म इति ह उवाच—उसने स्पष्ट उत्तर दिया कि वह परब्रह्म परमात्मा था। **ब्रह्मणः वै एतत् विजये महीयध्वम् इति**—उस परमात्मा की ही इस विजय में तुम अपनी महिमा मानने लगे। **ततः एव**—उमा के इस कथन से ही। **ह विदाञ्चकार ब्रह्म इति**—इन्द्र ने निश्चयपूर्वक समझ लिया कि वह ब्रह्म ही था। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार यह आख्यान, कि हिमालय-पुत्री उमा ने देवों को ब्रह्म का रहस्य उद्घाटित किया, यह

सूचित करता है कि वनवासी ऋषियों ने अपना औपनिषदिक चिन्तन हिमालय की कन्दराओं में जाकर विकसित-पल्लवित किया। उमा (ब्रह्म-विद्या) को हैमवती इसीलिए कहा गया है कि हिमालय में साधु, सन्त और यात्री शताब्दियों से जाते रहे हैं और आध्यात्मिक शान्ति पाते रहे हैं। विद्या समस्त सुन्दर वस्तुओं में सुन्दरतम वस्तु है—'सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमा विद्या, विरूपोऽपि विद्यावान् बहु शोभते'। तस्मात् वै एते देवा:—इसीलिए ये तीनों देवता वह अग्नि वायु इन्द्र—जो कि अग्नि, वायु और इन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हैं, अन्यान् देवान् अतितराम् इव—दूसरे (चन्द्रमा आदि) देवों की अपेक्षा मानो अतिशय श्रेष्ठ हैं। हि ते एतत् नेदिष्ठम् पस्पृशुः—क्योंकि उन्होंने ही इस समीपस्थ (ब्रह्म) को (दर्शन द्वारा) स्पर्श किया है। नेदिष्ठ=नेद् (निकट)+इष्ठन्, निकटतम। पस्पृशुः—स्पृश्, लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन। ते हि एनत् प्रथमः विदाञ्चकार ब्रह्म इति—और उन्होंने ही इसको सबसे पहले जाना है कि यह ब्रह्म है। समस्त देवताओं में अग्नि, वायु और इन्द्र को ही परम श्रेष्ठ मानना चाहिए, क्योंकि उन्हीं तीनों ने ब्रह्म का सम्पर्क प्राप्त किया है और उन्होंने ही इस सत्य को समझा कि हम लोगों ने जिसका दर्शन प्राप्त किया है, जिससे वार्तालाप किया है और जिसकी शक्ति से असुरों पर विजय प्राप्त की है, वही साक्षात् पूर्ण ब्रह्म परमात्मा है। (अन्य देवताओं ने तो उनसे केवल सुनकर जाना कि हम जो दिव्य यक्ष दिखाई दे रहा था, वही ब्रह्म था।) इसी प्रकार जिन सौभाग्यशाली पुरुषों को किसी भी कारण से ईश्वर के सम्पर्क का, उसके दर्शन, स्पर्श और उसके साथ सदालाप का सुअवसर प्राप्त हो चुका है, उनकी महिमा भी इन्द्रादि देवताओं के समान है। इन तीनों देवताओं में भी अग्नि और वायु की अपेक्षा इन्द्र श्रेष्ठ है, इसका कारण अगले मन्त्र में बताया गया है। तस्मात् वै इन्द्रः अन्यान् देवान् अतितराम् इव—इसीलिए इन्द्र दूसरे देवताओं की अपेक्षा मानो अतिशय श्रेष्ठ है। हि सः एनत् नेदिष्ठम् पस्पर्श—क्योंकि उसने इस समीपस्थ (ब्रह्म) को (उमादेवी से सुनकर सबसे पहले मन

के द्वारा) स्पर्श किया। स हि···ब्रह्म इति—(और) उसी ने अन्यान्य देवताओं से पहले यह जाना कि यह ब्रह्म है। अग्नि, वायु और इन्द्र तीनों को ब्रह्म का दर्शन और तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति हुई, परन्तु इनमें भी इन्द्र ने सबसे पहले इस तत्त्व को समझा कि ब्रह्म की महिमा से ही सारे देव महिमान्वित हैं, इसलिए इन्द्र सबसे श्रेष्ठ माना गया।

डा० राधाकृष्णन् के अनुसार इस आख्यान में रूपकात्मक ढंग से नाना वैदिक देवताओं पर परब्रह्म की सर्वोच्च सत्ता प्रतिष्ठित की गई है।

५—अधिकारिवर्गेषु राज्ञो जागरूकता

चन्द्रगुप्त मौर्य के अमात्य कौटिल्य (चाणक्य) का 'अर्थशास्त्र' (४०० ई० पू०) अर्थशास्त्र-साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसे प्राचीन भारत का आर्थिक एवं राजनीतिक कोश कहा जा सकता है। राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा, मन्त्रि-मण्डल, गुप्तचर, राजदूत, अन्तःपुर, शासन-प्रबन्ध, दुष्टों का निग्रह, व्यवहार (कानून), चीजों में मिलावट, मूल्य-नियन्त्रण, झूठे नाप-तोल को रोकने के उपाय, कूटनीति, युद्ध-संचालन, गुप्त विद्याएँ आदि अनेकानेक विषयों पर कौटिल्य ने सुलझे हुए विचार प्रकट किए हैं, जिनसे आज के परिवर्तित युग में भी लाभ उठाया जा सकता है। 'अर्थशास्त्र' की भाषा गद्य-प्रधान है, जिसमें कहीं-कहीं पद्य भी आ गए हैं। गद्य में सूत्र और भाष्य दोनों शैलियों का सम्मिश्रण पाया जाता है।

प्रस्तुत पाठ में भ्रष्ट सरकारी कर्मचारियों के प्रति शासक किस प्रकार जागरूक रहे, इस विषय पर ऊहापोह किया गया है। कौटिल्य के सुझावों को क्या आज भी कार्य-रूप में परिणत किया जा सकता है, यह भले विचारणीय हो, पर मार्के की बात यह है कि आज से लगभग २५०० वर्ष पहले ही भारत के राजनीतिज्ञ सरकारी विभागों में भ्रष्टाचार के

उन्मूलन के लिए किस गम्भीरता से सोचते थे। सोचते ही नहीं थे, वरन् ऐसे व्यावहारिक नियम भी बनाते थे, जो उन दिनों अवश्य ही लागू किए जाते रहे होंगे।

कौटिल्य का गद्य औपनिषदिक गद्य से अधिक प्राञ्जल और सयत है। निराडम्बरता और सरलता इसके विशेष गुण हैं। लम्बे समासों का प्रयोग दिखाई देता है। वाक्य-विन्यास चुस्त और गठा हुआ है। पदों की पुनरुक्ति लुप्त हो गई है।

[पृ० ३७] अमात्य नियोज्या —अमात्यों को योग्यता (सम्पदा) से युक्त व्यक्तियों को, उनकी निजी सामर्थ्य के अनुसार (शक्तित), सरकारी विभागों में अध्यक्ष-पद पर नियुक्त करना चाहिए।

कर्मसु कारयेत्—काय-सलग्न होने पर उनकी प्रतिदिन जाँच-पड़ताल करनी चाहिए। चित्त०—क्योंकि मनुष्यों का चित्त चचल होना है। अश्वसधर्माण विकुर्वते—मनुष्यों के गुण (धर्म) घोड़ों-जैसे होते हैं और किसी काम में लगाए जाने पर उनमें विकार आते रहते हैं। विकुर्वते—विपरीत कुर्वन्ति। तस्मात्०—इसलिए कर्ता, साधन, देश, काल, कार्य, उसका प्रारम्भ और परिणाम इन सबका पता रखना चाहिए।

ते यथा कुर्युः—वे (विभागीय अध्यक्ष) आदेशानुसार काम करें, न उनमें घनिष्ठता हो (असहता) और न वे आपस में लड़ें (अविगृहीता)। [पृ० ३८] सहता भक्षयेयु —घनिष्ठता होने पर वे (राज्य की आय) हड़प जाएँगे। विगृहीता विनाशयेयु —लड़ने पर वे काम बिगाड़ देंगे। न चानिवेद्य कारेम्भ —आपत्तियों के निवारण के अतिरिक्त (=अन्यत्र) व कोई भी काम स्वामी की अनुमति विना आरम्भ न करें। प्रमाद द्विगुणम्—असावधानी करने पर दैनिक वेतन तथा खर्च का दुगुना जुर्माना (अत्ययम्) उन पर किया जाए। यश्चैषा लभेत—इन (अध्यक्षों) में जो (राजकीय) आय को आदेश के अनुसार या उससे कहीं अधिक एकत्र करता है, उसे पद-वृद्धि और सम्मान प्रदान करना चाहिए।

समुदयम्—आय । परिहापयति—कम करता है या हानि पहुँचाता है । राजार्थं भक्षयति—राजा का भाग हड़पता है । अज्ञानादिभिः—यदि वह अनजाने में (राज्य की आय में) हानि पहुँचाता है तो उसे उस हानि की उसी मात्रा में (यथागुणम्) पूर्ति करनी होगी । द्विगुणम् उद्भावयति—दुगुनी बढ़ा देता है । जनपदं भक्षयति—वह देश को हानि पहुँचाता है । स चेद् राजानम् उपनयति—यदि वह (उस दुगुनी आय को) राजा तक पहुँचा देता है तो अल्पापराधे वारयितव्यः—अपराध अल्प होने पर उसे चेतावनी देनी चाहिए । महति०—अपराध गम्भीर होने पर उसे अपराध के अनुसार दण्डित करना चाहिए । यः समुदयं ˙ भक्षयति—जो आय को (मुनाफा अर्जित किए बिना) खर्च कर डालता है वह कर्मचारियों के परिश्रम को खाता है (व्यर्थ करता है ।) सः ˙ दण्डयितव्यः—उसे (व्यर्थ गए) काम के दिनों, (बेकार गई) पूँजी की कीमत तथा कर्मचारियों को दिए गए वेतन के हिसाब से दंड देना चाहिए ।

अधिकरणे शासनस्थः—विभागाध्यक्ष । कर्मणः यथातथ्यम्—काम का वास्तविक परिमाण । आयव्ययौ च—तथा आय और व्यय । व्यास-समासाभ्याम्—एक साथ और अलग-अलग करके । आचक्षीत—जाँचे । मूल ˙ प्रतिषेधयेत्—उसे मूलहर, तादात्विक और कदर्य लोगों पर रोक लगानी चाहिए (उन्हें बरखास्त कर देना चाहिए) । यः˙˙ मूलहरः—जो बाप-दादों के पैसे को (वंशानुगत सम्पत्ति को) अन्याय से खाता है, वह मूलहर है । यः˙˙˙तादात्विकः—जो कुछ कमाता है उसे सारा चट करनेवाला तादात्विक है । यो˙˙˙कदर्यः—जो अपने नौकर-चाकरों को तथा स्वयं अपने को कष्ट पहुँचाकर धन जोड़ता है, वह कदर्य है ।

अध्यक्षाः ˙ कुर्युः—अध्यक्षों को चाहिए कि वे गणक या लेखा-परीक्षकों (संख्यायक), लेखकों, सिक्कों की जाँच-पड़ताल करनेवालों (रूपदर्शक), कोषाध्यक्षों (नीवीग्राहक) तथा सैनिक अधिकारियों (उत्तराध्यक्ष) के साथ सहयोगपूर्वक अपना-अपना कार्य करें ।

हस्त्य ˙ अपसर्पाः—हाथी, घोड़े और रथों के अधिकारियों के पास

रहनेवाला हो, जो चतुर और ईमानदार हो, गणकों आदि पर निगरानी रखने के लिए गुप्तचर नियुक्त करना चाहिए। बहुमुख्यम् स्थापयेत्—प्रत्येक विभाग के कई अस्थायी अध्यक्ष होने चाहिए।

मत्स्या०—जिस प्रकार पानी के अन्दर विचरण करती हुई मछलियों को पानी पीते हुए नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार राजकीय काम में लगे सरकारी नौकरों को (अपने लिए) पैसा बटोरते हुए नहीं देखा जा सकता।

[पृ० ३९] अपि शक्या—आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की गतिविधि जानी जा सकती है, लेकिन गुप्त भाववाले सरकारी कर्मचारियों की चाल ढाल का पता नहीं लगाया जा सकता।

न क्षपयन्ति—जो राजा की आय को खाने के बजाय न्यायपूर्वक बढाते हैं और उसके प्रिय और हित में संलग्न रहते हैं, उनकी नौकरी स्थायी कर देनी चाहिए।

६—अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर सबसे प्रामाणिक टीका पतञ्जलि का 'महाभाष्य' है। इसके नौ आह्निकों में आचार्य ने व्याकरण के कर्ता की प्रतिभा पर विस्तृत प्रकाश डाला है। पतञ्जलि का उद्देश्य कात्यायन आदि मध्यवर्ती आचार्यों द्वारा उठाए गए सभी आक्षेपों की छानबीन नहीं था। जहाँ पाणिनि की वैज्ञानिक धारा एक बार स्पष्ट हो गई, वहीं सबके-सब आक्षेप आपसे-आप स्पष्ट हो जाते हैं, क्योंकि पाणिनि की कृति एक रूखे वैयाकरण की न होकर मूलतः एक भाषा-वैज्ञानिक की थी। पतञ्जलि पग-पग पर पाठक को इस सही दृष्टिकोण से अवगत करते चलते हैं। प्रस्तुत अंश 'महाभाष्य' के प्रथम आह्निक का एक उद्धरण

है। इसमें आचार्य ने इन तीन प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान किया है—(१) शब्द क्या है ? (२) व्याकरण के प्रयोजन क्या हैं ? (३) व्याकरण के अध्ययन का तरीका क्या होगा ?

[पृ० ३६] शब्दानाम् अनुशासनम् शब्दानुशासन शब्दशास्त्रम्। **अनुशासनम्**=छानबीन। पतञ्जलि व्याकरण को शब्दशास्त्र कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं। इस पर दार्शनिक प्रश्न उठा सकता है–'शब्द' से आपका अभिप्राय है ? पतञ्जलि 'गौ' का उदाहरण देकर एकदम स्पष्ट कर देते हैं कि शब्द सम्पूर्ण वस्तु का ध्वनि-रूप प्रतिलिपि है, मात्र द्रव्य, क्रिया, गुण, आकृति आदि का द्योतक नहीं।

केषां · **वैदिकानां च**–पाणिनि का व्याकरण मुख्यत: संस्कृत भाषा के लिए है और संस्कृत के भी दो रूप हैं · वैदिक और लौकिक। सर्वसाधारण में प्रायः यह धारणा रही है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, अत: वैदिक मन्त्रों अथवा शब्दों की परीक्षा अनधिकार चेष्टा है। किन्तु पतञ्जलि के अनुसार संस्कृत के ये दोनों ही रूप व्याकरण की वैज्ञानिक परीक्षा के लिए एक-से स्थल हैं। अब पतञ्जलि लौकिक (संस्कृत) और वैदिक शब्दों के कुछ उदाहरण देते हैं। **शं नो देवीः अभिष्टये**–दिव्य गुणों से युक्त ये जल-धाराएँ (आप:) सब तरह से (अभिष्टये—अभि+अश्+क्तिन्+ङे) हमारे लिए कल्याणकारी हों। यह अथर्ववेद का मन्त्र है। **इषे त्वा ऊर्जे त्वा**–मैं अन्न के लिए, बल के लिए तेरी उपासना करता हूँ। यह यजुर्वेद का मन्त्र है। **अग्निम् ईडे पुरोहितम्**–मैं एक अग्नि की ही उपासना करता हूँ, मेरा पुरोहित (ऋत्विक्, होता सब कुछ) वही है। यह ऋग्वेद का मन्त्र है। **अग्नि आ याहि वीतये**–हे अग्नि, आओ और हमारे इन उपहारों का रस लो (वीतये=रसास्वादाय)। यह सामवेद का मन्त्र है।

अथ गौः इत्यत्र कः शब्दः–'गौ' इसमें आप किसे शब्द मानते हैं ? **किं यत्तत्०**—क्या जो गलकम्बल (सास्ना), पूँछ, कूबड़, खुर, सींग-वाला पदार्थ है, वही शब्द है ? **नेत्याह**—पतञ्जलि उत्तर देते हैं—नहीं, इसे द्रव्य (वस्तु) कहते हैं, शब्द नहीं। **यत्तर्हि०**–तब क्या गौ की

चेष्टाओं को, आँख झपकाने आदि को शब्द कहते हैं ? नहीं, यह तो क्रिया है। इङ्गितम् अभिप्रायस्य सूचकः शरीरव्यापारः। चेष्टितं कायपरिस्पन्दः। निमिषितम् अक्षिव्यापारः। यर्त्ताह तत् शुक्ल… शब्द —तब क्या सफेद, नीला, भूरा, कबूतरी आदि जो गौ का रंग होता है, उसे शब्द कहते हैं ? नहीं, यह तो गुण है। यर्त्ताह०—क्या तब सारी गौओं में जो सामान्य गोत्व अंश है, उसे शब्द कहते हैं ? नहीं, इसे तो आकृति कहते हैं। [पृ० ४०] येन उच्चारितेन०—जिस ध्वनि का उच्चारण होते ही वस्तु का ग्रहण (सम्प्रत्यय=ज्ञान) हो जाता है, उस ध्वनि को शब्द कहते हैं। अथवा०—संसार में भी हम देखते हैं कि जिस ध्वनि से पदार्थ की प्रतीति अथवा बोध होता है, उस शब्द कहते हैं। शब्दकारी अयं माणवकः—यह शोर मचानेवाला बच्चा है, यह शोर मचानेवाले बालक के विषय में ही कहा जाता है।

शब्द की परिभाषा करने के बाद पतञ्जलि शब्दानुशासन (व्याकरण) के पाँच प्रयोजनों को गिनाते हैं—(१) रक्षा—व्याकरण-अध्ययन का श्रीगणेश सम्भवतः वेदों के सही अर्थ को समझने के लिए हुआ था। (२) ऊहा—अनेक स्थलों पर वेद में विभक्ति का लोप और विपर्यय मिलता है, उसकी अनुमान से पूर्ति (ऊहा) भी व्याकरण के विज्ञान द्वारा ही हो सकती है। (३) आगम—पीढ़ी परम्परा (आगम) ने भी व्याकरण को ही छह वेदाङ्गों में प्रधानता दी। (४) लघु—व्याकरण भाषा-विज्ञान का 'शार्ट कट' (लघु) है। (५) असन्देह—व्याकरण द्वारा ही, उदाहरणतया, यह सन्देह दूर हो सकता है कि कहाँ एक समस्त पद (स्थूलपृषती) स्वर-भेद से बहुव्रीहि है और कहाँ तत्पुरुष।

लोपागम०—एक वैयाकरण ही बता सकता है कि वेद के मन्त्रों में कहाँ कौन-सा वर्ण सन्धि आदि के नियम से लुप्त (लोप) है या कहाँ वह ऊपर से आ गया (आगम) है (यथा, ३), या कहाँ उसका रूपान्तर (विकार) हो गया है। इस प्रकार वैयाकरण ही वेद के सही अर्थ तक पहुँच सकता है। ऊह०—अनुमान। न सर्वै०—अर्थात् वेदों में स्थान-स्थान पर लिङ्ग-व्यत्यय तथा विभक्ति-व्यत्यय (अनियम) दृष्टिगोचर होता है। ते च

अवश्यं···तव्याः--पुरोहित के लिए यह आवश्यक है कि उसे वैदिक मन्त्रों के सही अर्थ का ज्ञान हो। विपरिणमयितव्याः (वि+परि+नम्+णिच्+इट्+तव्य) = अर्थानुसारेण सम्यक् ज्ञातव्याः।

ब्राह्मणेन···व्याकरणम्—ब्राह्मण के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी प्रलोभन के बिना धर्म का, अर्थात् साङ्गोपाङ्ग वेद का, अध्ययन करे। वेद के छह अंगो मे व्याकरण प्रधान है, अतः व्याकरण के अध्ययन से अन्य वेदाङ्गो का अध्ययन सुकर हो जाता है।

लघ्वर्थम्—व्याकरण के अध्ययन के लिए एक और युक्ति भी दी जा सकती है, वह यह कि शब्दशास्त्र के ज्ञान के लिए इससे सरल और संक्षिप्त कोई अन्य उपाय नहीं।

असन्देहार्थम्—वाक्य का अर्थ समझने मे कभी-कभी सन्देह हो जाता है; उसके निराकरण मे व्याकरण ही सहायक हो सकता है। इसका आचार्य एक उदाहरण देते हैं—**याज्ञिका···इति**—यज्ञ मे अग्नि और वरुण का नाम लेकर किस प्रकार की गौ का आलम्भन (बलि) किया जाए, इसके सम्बन्ध में यज्ञाचार्यों की उक्ति है—**स्थूलपृषती०**, अर्थात् वह गौ 'स्थूलपृषती' होनी चाहिए। **तस्यां सन्देहः**—अब स्वभावतः प्रश्न उठता है कि यहाँ 'स्थूलपृषती' का क्या अर्थ है ? क्या यह कि 'स्थूल और पृषती' ? अथवा यह कि 'स्थूल पृषतोंवाली' ? पृषती = पृषत्+ई = लोमवती, रोएँवाली)। **तां न अवैयाकरणः···इति**—इसके सही अर्थ पर कोई अवैयाकरण प्रकाश नहीं डाल सकता, क्योंकि उसे स्वर का ज्ञान नहीं। स्वर-प्रक्रिया के नियमानुसार यदि उदात्त स्वर पूर्वपद पर है तो 'स्थूलपृषती' इस समस्त पद का अर्थ बहुव्रीहि के अनुसार (स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा) करना होगा; और यदि स्वर उत्तरपद पर है तो उसका अर्थ तत्पुरुष के अनुसार (स्थूला च पृषती च) करना उचित होगा।

[पृ० ४१] **तत्कथं कर्तव्यम्**—अब प्रश्न यह उठता है कि शब्दों के अनुशासन (शब्द-परीक्षा) के सम्बन्ध में प्रणाली कौन-सी अपनाई जाए ?

(१) क्या मूल (संस्कृत) शब्द का संकलन (उपदेश) ही पर्याप्त होगा ? इसे 'शब्दोपदेश-प्रणाली' कहते हैं। (२) अथवा (=आहोस्वित्) अपशब्दों (=अपभ्रंशों) की तुलनात्मक समीक्षा भी आवश्यक है ? इसे 'अपशब्दोपदेश-प्रणाली' कहते हैं। (३) अथवा मूल शब्द और अपभ्रंश दोनों की साथ-साथ परीक्षा करनी चाहिए ? इसे 'उभयोपदेश-प्रणाली' या 'प्रतिपदोक्त-शब्दपारायण प्रणाली' कहते हैं। 'उपदेश' एक पारिभाषिक शब्द है, जिसके अन्तर्गत संकलन, तुलना, समीक्षा आदि का समावेश होता है। पतञ्जलि दूसरी और तीसरी प्रणाली की अनुपयुक्तता सिद्ध करके प्रथम प्रणाली को ही समीचीन बताते हैं।

यदि तावत्०—उदाहरण के तौर पर यदि शब्दोपदेश-प्रणाली के अनुसार मूल शब्द 'गो' का संकलन ही पर्याप्त समझा जाए तो स्वभावतः 'गावी', 'गोणी', 'गोता', 'गोपोतलिका' आदि 'गो' शब्द के सभी अपभ्रंश व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध ठहरेंगे। परन्तु इन अपभ्रंशों का प्रयोग भी लोक-व्यवहार में उसी प्रकार होता है जिस प्रकार मूल (शुद्ध) शब्दों का। यदि इसके विपरीत अपशब्दोपदेश-प्रणाली को अपनाकर पहले इन सब अपभ्रंशों का संग्रह कर लें तो तुलना द्वारा ही हम मूल 'गो' शब्द तक पहुँच सकते हैं, अन्यथा नहीं।

किं पुनः अत्र ज्यायः—अब देखना यही है कि इन दोनों प्रणालियों में सरल (ज्यायः) कौन-सी है और क्लिष्ट (गरीयान्) कौन-सी ?

लघुत्वात्—शब्दोपदेश-प्रणाली सरल है, क्योंकि वह लघु (संक्षिप्त) होती है। गरीयान्०—अपशब्दोपदेश-प्रणाली क्लिष्ट है, क्योंकि एक ही शब्द के, उदाहरणतः 'गौ' के, अनेकानेक अपभ्रंश या रूपान्तर मिलते हैं। इष्टान्वाख्यानं खलु अपि भवति—शब्दोपदेश-प्रणाली का एक और लाभ यह है कि मूल शब्द (इष्ट) को पकड़ने के पश्चात् उस शब्द का ऐतिहासिक और क्रमिक विकास (अनु+आख्यान) भिन्न-भिन्न अपभ्रंशों में स्वयं स्पष्ट होता चलता है।

अनभ्युपायः पाठः—शब्दानुशासन में एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न

रूपान्तरों, अपभ्रंशों की पग-पग पर समीक्षा न उचित जँचती है, न सम्भव ही (अनभ्युपायः)। मरणधर्मा मनुष्यों की बात तो छोड़िए, देवताओं के विषय में भी यह अव्यावहारिक है। इनके विषय में एक कथा आती है (अनुश्रूयते)—बृहस्पति ने इन्द्र को उभयोपदेश-प्रणाली (शब्द तथा उसके हरएक अपभ्रंश की समीक्षा) के अनुसार शब्दानुशासन का पाठ पढ़ाया। हजार वर्ष बीत गए, किन्तु यह पहला पाठ ही समाप्त होने को न आता था। यह स्मरण रहे कि इन्द्र-जैसा विद्यार्थी और बृहस्पति-जैसा आचार्य सामान्य नहीं होता और यह पठन-पाठन हजार वर्ष (वर्ष का मापदण्ड भी पार्थिव न होकर अलौकिक था) चलता रहा। पर इन्द्र का अध्ययन-काल समाप्त नहीं हो सका। किं पुनः अद्यत्वे—फिर आज के युग की बात क्या करें! यः सर्वथा...जीवति—कोई विरला पुरुष बहुत लम्बी आयु जी भी जाए तो यही न कि सौ साल! चतुर्भिः प्रकारैः—किसी विद्या या विज्ञान पर पूर्णाधिकार तब होता है जब (१) उसे सही-सही गुरु-मुख से प्राप्त किया जाए (आगम), (२) फिर उसे मनन द्वारा आत्मसात् किया जाए (स्वाध्याय), (३) इस गृहीत ज्ञान को अध्यापन द्वारा शिष्यों में वितरित किया जाए (प्रवचन), तथा (४) दैनिक जीवन में उसका उपयोग किया जाए (व्यवहार)। (कुछ टीकाकार परम्परा के अनुसार 'व्यवहार' का अर्थ 'यज्ञ-कर्म' ही समझते हैं।) तत्र च ···स्यात्—अब सोचिए, यदि कोई शिष्य इस उभयोपदेश (अथवा, प्रतिपदोक्त शब्दपारायण) प्रणाली के अनुसार गुरु-मुख से शब्दानुशासन का पाठ पढ़ना शुरू करे तो उसकी सारी आयु इस विद्या के ग्रहण (आगम) में ही बीत जाएगी। तब फिर स्वाध्याय कब होगा? प्रवचन कब होगा? और उस विद्या का व्यावहारिक उपयोग कब होगा? तस्मात्···पाठः—इसलिए शब्द-शब्द पर उसके अपभ्रंश रूपान्तरों की साथ-साथ समीक्षा असम्भव है, अनुपयुक्त है। यह स्थिति ऐसी है जैसे कोई यात्री बीच समुद्र में पड़ जाए और उसे कहीं ओर-छोर न दीखे; शब्दशास्त्र भी इसी प्रकार का एक अनन्त-अपार सागर है।

७—सत्सेवितः पन्था

व्याकरण में जो स्थान पाणिनि और पतञ्जलि का है, वही आयुर्वेद में चरक मुनि का है। भारतीय चिकित्सा-शास्त्र के वह प्रमाणभूत आचार्य हैं। वह प्रथम शताब्दी ई० में महाराज कनिष्क के चिकित्सक थे। 'चरक-संहिता' गद्य में लिखित है और प्रत्येक अध्याय के अन्त में श्लोक दिए गए हैं। चरक ने शल्य-क्रिया को छोड़कर चिकित्सा के सभी विषयों का विवेचन किया है। उनके अनुसार स्वास्थ्य के तीन आधार हैं—भोजन, विश्राम और संयम। स्वच्छता के उन्होंने कई नियम बनाए हैं तथा पाप को रोग का एक कारण मानते हुए कई धार्मिक और नैतिक उपदेश भी दिए हैं। ८०० ई० में कश्मीर के दृढबल ने 'चरक संहिता' में संशोधन एवं परिवर्धन किया था। इससे काफी पहले ही उसका फारसी में अनुवाद हो चुका था। फारसी से उसे अरबी में अनूदित किया गया।

प्रस्तुत प्रकरण में शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी नियमों का निर्देश है। स्वच्छता और शिष्टाचार, सदाचार और आत्म-संयम को चरक ने स्वास्थ्य के अन्तर्गत रखा है। चरक के बनाए हुए नियमों से तत्कालीन भारतीय समाज की कई विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। उनमें से कई आज भी हमारे बीच मान्य हैं। चरक की भाषा सरल और गतिमान् है।

[पृ० ४२] सद्वृत्तम्—स्वास्थ्यकर शुभम् आचरणं सद्वृत्तम्, यदनुष्ठानेन शरीरस्य, मनस, इन्द्रियस्य स्वास्थ्यं प्राप्नोति नरः तत् सद्वृत्तम्। सिद्ध.—तपस्वी। अग्निम् उपाचरेत्—अग्नि की सेवा अर्थात् होम करे। ओषधी प्रशस्ता धारयेत्—उत्तम-उत्तम ओषधियाँ धारण करे। (सदा पास रखे, जैसे 'सर्पदंशोपचार' बूटी; कस्तूरी आदि)। द्वौ कालौ उपस्पृशेत् (स्नायात्, सन्ध्याम् उपासीत)—दोनों समय स्नान तथा सन्ध्या करे। मला आदध्यात्—गुदा आदि मल-मार्ग तथा पैरों को सदा स्वच्छ रखे। मलायनेषु—मलनि सरणमार्गेषु। त्रि सहारयेत—

पक्ष में (कम-से-कम) तीन बार दाढ़ी-मूँछ (श्मश्रु) और सिर के बाल तथा नख कटवाए। पञ्चभिः पञ्चाभिः दिनैः क्षौर नखकर्तनं च विधेयम्। नित्यम्—प्रतिदिन ऐसे वस्त्र पहने जो स्वच्छ हों, फटे हुए न हों, प्रसन्नमन रहे, सुगन्धि (जैसे इत्र) धारण करे। अनुपहतवासाः= अम्लानवस्त्रः, अत्रुटितवस्त्रो वा।

साधुवेशः—वेश उत्तम हो, शिष्टजनोचित हो। प्रसाधितकेशः—बालों को (तेल-कंघी से) सँवारकर रखे। मूर्ध०—सिर, कान, नाक तथा पैरों में रोज तेल लगाए। पूर्वाभिभाषी—(परस्पर मिलने पर दूसरे के बोलने से) पहले (सत्कारयुक्त वचनों से) बोले। सुमुखः०—प्रसन्न-मुख रहे। दुर्गेष्वभ्युपपत्ता—दुर्गतिपतितानां रक्षिता, कठिनाई में पड़े हुओं का रक्षक बने। होता—होम करने वाला। यष्टा—यज्ञ करनेवाला। चतुष्पथानां नमस्कर्ता—चौराहों पर नमस्कार करनेवाला। बलीनाम् उपहर्ता—बलिवैश्वदेव यज्ञ करनेवाला (कुत्ते, रोगी, चाण्डाल आदि के लिए बलि देने वाला)। पितृभ्यः पिण्डदः—पितरों को पिण्ड देनेवाला। काले०—समय पर और हितकर वचन बोलनेवाला, मितभाषी और मधुर वक्ता। वश्यात्मा—जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर रखा है। हेतावीर्षुः (हेतौ ईर्षुः) फले नेर्षुः (फले न ईर्षुः)—श्रेष्ठ कर्म करने में प्रयत्नशील परन्तु उसके फल की इच्छा न रखनेवाला (तुलना कीजिए—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्व-कर्मणि॥ गीता २।४७); अथवा, कारण में ईर्ष्या रखनेवाला परन्तु फल में ईर्ष्या न करने वाला; अर्थात् 'अमुक व्यक्ति जिन कर्मों के करने से धनवान् या विद्वान् बना है, वे ही कर्म मैं भी करूँ, जिससे कि मैं भी धनवान् या विद्वान् बन जाऊँ', ऐसी इच्छा मनुष्य को अवश्य करनी चाहिए, किन्तु यह इच्छा नहीं कि 'अमुक व्यक्ति का धन मैं ले लूँ'; इस प्रकार की ईर्ष्या से दूर रहना चाहिए। निश्चिन्तः—जिनके विचार डाँवाडोल (चिन्ताकुल) न हों। निर्भीकः—भयरहित। धीमान्—बुद्धिमान्। ह्रीमान्—लज्जायुक्त। विनय०—विनय, बुद्धि, विद्या, कुल तथा आयु

में वृद्धों तथा सिद्ध आचार्यों का उपासक (उनका सत्संग करने वाला)। छत्री—छाता लगानेवाला। दण्डी—दण्ड (डंडा) रखनेवाला। मौली—सिर पर पगड़ी, टोपी आदि धारण करनेवाला। इससे ज्ञात होता है कि चरक के समय में सिर नंगा रखना अच्छा नहीं माना जाता था। सोपानत्क—जूता पहननेवाला। न नग्नचरणः चरेत्। युगमात्रदृक् विचरेत्—युग (चार हाथ) मात्र दूरी तक अपनी दृष्टि रखे, अर्थात् चलते समय चार हाथ की दूरी का रास्ता देख-भाल कर चले। इससे ज्यादा दूर या कम देखनेवाला ठोकर खाता है। मङ्गलाचारशील—मङ्गल-आचारों में तत्पर, उन कर्मकाण्डों का कर्ता जो मांगलिक, ऋद्धि-सिद्धि-वर्धक हों। कुचैल०—ऐसी जगह न जाए, जहाँ चीथड़े (कुचैल), हड्डी, काँटे पड़े हों, जो अपवित्र (अमेध्य) हो, जहाँ केश पड़े हों, तुषों का ढेर लगा हो, राख पड़ी हो, कपाल (टूटे हुए मिट्टी आदि के बर्तन) आदि पड़े हों, जहाँ लोग स्नान करते हों (क्योंकि ऐसे स्थलों पर ठोकरें खाने, फिसलने आदि का डर रहता है) तथा जहाँ बलि दी जाती हो। प्राक्०—थकावट होने से पहले ही व्यायाम बन्द कर दे। सर्व० स्यात्—समस्त प्राणियों को अपना बन्धु समझे। क्रुद्धानाम् अनुनेता—क्रुद्ध पुरुषों को अनुनय-विनय द्वारा समझाने वाला। भीता०—डरे हुओं को आश्वासन देनेवाला। दीना०—दीनों का सहारा। सत्यसन्ध—सत्यप्रतिज्ञ। सामप्रधान—शान्तियुक्त। परपरुष०—दूसरों के कठोर वचन सहने-वाला। अमर्षघ्न—असहिष्णुता या क्रोध (अमर्ष) का नाशक, अर्थात् विनोदप्रिय। प्रशमगुणदर्शी—शान्ति को गुण-रूप से देखनेवाला। राग०—राग, द्वेष आदि के कारणों का नाशक हो।

न अपरस्वम् आददीत—दूसरे के धन का अपहरण न करे। नान्यस्त्रि-यम्—दूसरे की स्त्री को न चाहे। न वैरं रोचयेत्—वैर में रुचि न रखे। न पापे ऽपि पापी स्यात्—पाप के उपस्थित होने पर भी पापी न हो, अथवा पापी के साथ भी पाप न करे, अपकारक के प्रति भी अपकार न करे, नान्यदोषान् ब्रूयात्—दूसरे के दोषों को न कहे, दूसरों की निन्दा

न करे। नान्यरहस्य०—दूसरे के रहस्यों को न खोले। नाधार्मिकैः··· सहासीत···अधार्मिक और राजद्वेषी लोगों के साथ न बैठे। नोन्मत्तैः··· दुष्टैः—इसी प्रकार उन्मत्त (पागल), पतित (धर्मभ्रष्ट), भ्रूणहन्ता (गर्भपात करनेवाले), नीच और दुष्ट पुरुषों के साथ न रहे। [पृ० ४३] न दुष्टयानानि आरोहेत्—दुष्ट सवारियों पर न बैठे। न जानुः०—घुटनों से ऊँचे या नीचे आसन पर, जिस पर कुछ बिछा न हो, न बैठे। नाना · प्रपद्येत—जिस शय्या (चारपाई आदि) पर बिस्तर आदि न बिछा हो (अनास्तीर्णम्), सिरहाना न लगा हो (अनुपहितम्), जो छोटी हो (अविशालम्), या ऊँची-नीची हो (असमम्), उस पर न सोए। न गिरि · चरेत्—पहाड़ों की ऊँची-नीची चोटियों पर भ्रमण न करे। न जलो०—उग्र वेग वाले जल मे स्नान न करे। कूलं ··नोपासीत—नदियों के किनारों की छाया में न बैठे, उसके पास न जाए। नाग्नि··· चरेत्—कहीं आग का उत्पात होने पर उसके चारों ओर न घूमे। न शब्द · मुञ्चेत्—शब्दयुक्त हवा को मुँह से न छोड़े (इससे दूसरों पर थूक पड़ने का डर रहता है); अथवा शब्दयुक्त अपान-वायु को न छोड़े, अर्थात् अपान-वायु छोड़ते समय ऐसा प्रयत्न करे जिससे शब्द न हो। न असंवृत · प्रवर्तयेत्—जम्हाई, छींक (खाँसी) तथा हँसने के समय मुँह को हाथ से ढक लेना चाहिए। न नासिकां कुष्णीयात्—नासिकारन्ध्रे अङ्गुलिं प्रवेश्य नखेन कण्डूयनं च न कार्यम्, नाक को न कुरेदे। न दन्तान् विघट्टयेत्—दाँतों को न बजाए, अथवा दाँतों को न कुरेदे। न नखान् वादयेत्—नखों को बजाए नहीं। न···हन्यात्—हड्डियों को परस्पर न टकराए, घर्षण न करे। न भूमिं विलिखेत्—जमीन पर (पैर आदि से) लिखे नहीं। न छिन्द्यात् तृणम्—तिनकों को न तोड़े। न लोष्टं मृद्नीयात्—मिट्टी के ढेलों को न तोड़े। न विगुण०—अपने अङ्गों द्वारा विगुण चेष्टाएँ, बुरी हरकतें न करे। ज्योतीं···वीक्षेत्—अत्यन्त चमकवाली ज्योतियों (सूर्य आदि) को, तथा अनिष्टकारी, अपवित्र और अप्रशस्त वस्तुओं को न देखे। न हुं कुर्यात् शवम्—शव (मुर्दे) को देख-

कर घृणा-सूचक हुंकार न करे। य एव हुंकरोति तेन सोमो वर्हिनिरस्तो भवति, इत्यागम। न चैत्य आक्रामेत्—चैत्य (ग्राम अथवा नगर का प्रधान वृक्ष), ध्वजा, गुरु तथा अन्य पूज्य एवं अप्रशस्तों की छाया को न लाँघे। न क्षपासु आसेवेत—रात्रि के समय अमर सदन (देवगृह, मन्दिर आदि), चैत्य, चत्वर (चौक आँगन, खुली जगह), चतुष्पथ (चौराहा), उपवन (बाग-बगीचा), श्मशान तथा आघातन (वध-स्थान) में निवास न करे। नैक प्रविशेत्—अकेला ही किसी शून्य-गृह (निर्जन या बहुत दिनों से खाली पड़े मकान) में और जंगल में न जाए। न पाप०—पाप का आचरण करनेवाली स्त्री, मित्र तथा नौकर के साथ न रहे। नोत्तमै०—श्रेष्ठजनों से विरोध न करे। न अवरान् उपासीत्—नीचों के पास न जाए। न जिह्मं रोचयेत्—छल-कपट में रुचि न ले। न भयम् उत्पादयेत्—किसी को डराए नहीं और स्वयं भी न डरे। न साहसा०—साहस (सामर्थ्य से बढ़कर किया गया शारीरिक श्रम), तथा अत्यधिक सोने, जागने, नहाने और खाने-पीने से बचा रहे। न ऊर्ध्वं जिरुष्ठेन—घुटनों को ऊँचा उठाकर अर्थात् उकड़ूँ आसन में देर तक न बैठे। न व्याला०—सर्प, व्याघ्र, चीता आदि दंष्ट्री (दाँतवाले) पशुओं तथा गाय, बैल, भैंस आदि विषाणी (सींगवाले) पशुओं के समीप न जाए। पुरो जह्यात्—पुरोवात (पूर्व की वायु अथवा ठीक सामने से आनेवाली वायु), धूप, अवश्याय (ओस) और अतिप्रवात (आँधी) का सेवन न करे। कलि नारभेत—कलह शुरू न करे। नाशु०—एकाग्र चित्त हुए बिना होम न करे। नोच्छिष्ट प्रतापयेत्—उच्छिष्ट (जब शरीर पर जूठन लगी हो) होकर तथा अग्नि को नीचे रखकर अपने को न तापे। नाविगत उपस्पृशेत्—जब तक थकावट दूर न हो जाए तब तक स्नान न करे, सिर को गीला किए बिना स्नान न करे, तथा नग्न होकर भी स्नान न करे। न स्नान०—स्नान की धोती से सिर का स्पर्श न करे। न केशा०—केशों के अग्र भाग को झटकाए नहीं। नोपस्पृश्य बिभृयात्—स्नान करके उन्हीं (स्नान से पहले धारण किए हुए) वस्त्रों को न पहने,

अथवा जिन वस्त्रों में स्नान किया है उन्हींको धो-निचोड़कर पुनः गीले ही न पहन ले। **वाससी**—द्विवचन से अभिप्राय अधोवस्त्र (लँगोटा, जाँघिया) और बनियान से है। **अस्पृष्ट्वा⋯निष्क्रामेत्**—रत्न, घृत, पूज्य, मांगलिक द्रव्य, पुष्प आदि का स्पर्श किए बिना घर से बाहर न निकले। **न पूज्य०**—पूज्य एवं मंगलकारी पदार्थों को बाएँ करके न जाए और न अमंगलकारी पदार्थों को दाएँ करके जाए।

अब भोजन-सम्बन्धी नियम बताए जाते हैं—**अरत्न⋯ अन्नम् आददीत**। **न अरत्नपाणिः**—हाथ में रत्न लिए बिना (भोजन न करे)। **न अस्नातः**—स्नान किए बिना (भोजन न करे)। इस तरह हर पद के बाद 'भोजन न करे' का अर्थ उष्ट है। **उपहतवासाः**—फटे वस्त्र पहने हुए। **न अजपित्वा**—(गायत्री आदि) मन्त्रों के जप के बिना (सन्ध्या किए बिना)। **न अहुत्वा देवताभ्यः**—देवताओं के लिए होम किए बिना। **न अनिरुप्य पितृभ्यः**—पिता, माता आदि को भोजन कराए बिना। **न अदत्त्वा गुरुभ्यः न अतिथिभ्यः न उपाश्रितेभ्यः**—गुरु, अतिथि तथा आश्रितों को दिए बिना। [पृ० ४४] **न अपुण्यगन्धः**—शुभ गन्ध का अनुलेपन किए बिना, **न अमाली**—माला धारण किए बिना। **न अप्रक्षालित०**—हाथ, पैर और मुँह धोए बिना। **उदङ्मुखः**—उत्तर की ओर मुख करके। **विमनाः**—अन्यत्र मन लगाकर अथवा खिन्न मन से। **न अभक्ता०**—अभक्त (जो नौकर स्वामी के प्रति प्रीति न रखता हो), अशिष्ट (नीच, चाण्डाल आदि), अशुचि (अपवित्र) तथा क्षुधित (भूखे) नौकरों से (लाया-पकाया गया भोजन न करे)। **पात्रीषु अमेध्यासु**—अपवित्र पात्रों में। **अदेशे**—अप्रशस्त स्थान पर। **अकाले**—बेवक्त। **आकीर्णे**—जहाँ लोगों की भीड़-भाड़ हो, या जहाँ बहुत-सी चीजें बिखरी होने के कारण जगह तंग हो। **न अदत्त्वा अग्रम् अग्नये**—सबसे पहले अग्नि को दिए बिना (इससे भोजन के विषयुक्त होने पर विष का ज्ञान भी हो सकता है)। **न अप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैः**—प्रोक्षण जल से सिंचन किए बिना। **न मन्त्रैः अनभिमन्त्रितम्**—मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित किए

विना । कुत्सयन्—निन्दा करते हुए । कुत्सितम्—निन्दित । प्रतिकूलोपहितम्— जो शत्रु द्वारा दिया गया अथवा उलटे तरीके से रखा हुआ हो, या जो अपने शरीर के लिए अनुकूल न हो । आददीत—आ+दा, विधिलिङ्, प्रथमपुरुष एकवचन, सेवन करे । न पर्युषित भक्ष्येभ्य — मांस, अदरख आदि, सूखे साग, फल एवं अन्य भक्ष्य (लड्डू आदि) पदार्थों के सिवा बासी (पर्युषितम्=पूर्वदिनावशिष्टम् गतरात्रिकम्) भोजन न करे । अर्थात् ये पदार्थ तो कई दिन पड़े रहने पर भी खाए जा सकते हैं । न अशेष सर्पिभ्य —दही, शहद, नमक, सत्तू, जल और घी के अतिरिक्त अन्य पदार्थों को निःशेष न खाए, अर्थात् जितना दिया जाए उसमें से कुछ बचा दे । न नक्तं दधि भुञ्जीत— रात के समय दही न खाए । न सक्तून् एकान् अश्नीयात्— सत्तुओं को एक-एक करके (दाना-दाना करके) न खाए । न निशि—सत्तू रात में न खाए । भुक्त्वा—भोजन करके (सत्तू न खाए) । बहून्—अधिक मात्रा में । न उदकान्त-रितान्—बाट, घी अथवा जल के बिना (सत्तू न खाए) । न छित्वा द्विजै भक्षयेत्—दांतों से काट कर सत्तुओं को न खाए ।

न अनृजु शयीत—टेढ़ा होकर न छींके, न खाए और न लेटे । क्षुपात्—छिक्कयेत् । न वेगित स्यात्—(मल-मूत्र आदि का) वेग होने पर दूसरे काम में न लगे, न लगा रहे । न वायु उत्सृजेत्—वायु, अग्नि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, द्विज तथा गुरुओं की ओर मुँह करके न थूके, न अपान वायु छोड़े तथा न मल-मूत्र करे । न पन्थानम्०—रास्ते में मूत्र-त्याग न करे । न अनवति भुञ्जीत—जप होम, अध्ययन (पाठ), बलि तथा अन्य मांगलिक क्रियाओं में खखारना और नाक साफ करना उचित नहीं । श्लेष्मसिङ्घाणकम्—नासिकाविनिसृतमलम् ।

न सत वदेत्—सत्पुरुषों और गुरुओं की निन्दा न करे । न अशुचि०—अशुद्ध अवस्था में अभिचार-कर्म (मन्त्र-तन्त्र प्रयोग), चैत्य (मंदिर, वृक्ष) एवं पूज्यों की पूजा तथा पठन-पाठन न करे । अभिनिवर्तयेत्—अभि+निर्+वृत्+णिच्, विधिलिङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

न विद्युत्सु अनार्तवीषु—बेमौसमी बिजली चमकने पर। ऋतौ साध्वी इति आर्तवी; सा न भवति इति अनार्तवी, तासु विद्युत्सु। इस तथा बाद के पदों का सम्बन्ध अध्ययनम् अभ्यसेत् से है। **न अभ्युदितासु दिक्षु**—दिशाओं के प्रज्वलित होने पर। **न अग्निसम्प्लवे**—कहीं आसपास आग लग जाने पर। **महाग्रहोपगमने**—सूर्य-ग्रहण या चन्द्र-ग्रहण के समय। **नष्टचन्द्रायां तिथौ**—अमावस के दिन। **न अवपतितम्**—न लेटकर। **न अतिमात्रम्**—न अधिक मात्रा में। **न ताम्तम्**—न तोड़-फोड़कर (अर्थात् वाक्य या पद को बहुत लम्बा करके)। **न विस्वरम्**—न बेसुरा। **न अतिक्लीवम्**—न निर्वीर्य वाणी से।

अतिसमयः—बहुभिः मिलित्वा कृतः नियमः। **न नक्तं अदेशे चरम्**—रात्रि में या अनुचित स्थान पर न घूमे। **न सन्ध्यासु...स्यात्**—सन्ध्या-समय भोजन (अभ्यवहार), अध्ययन, स्त्री और निद्रा का सेवन न करे। **क्लिष्टः**—कुष्ठ आदि रोगों से पीड़ित। **न गुह्यं विवृणुयात्**—किसीका भंडाफोड़ न करे, गुप्त बातों को प्रकट न करे। **न कञ्चित् अवजानीयात्**—किसी की अवज्ञा न करे। [पृ० ४५] **न अहंमानी**—अहङ्कार (घमण्ड) न करे। **न अदक्षः**=कर्मकुशल। **न अदक्षिणः**=उदारचेता। **न असूयकः**—किसी से ईर्ष्या-द्वेष न करे। **न गवां दण्डम् उद्यच्छेत्**—गौओं पर डंडा न उठाए। गणः—पचायत। **न अधिक्षिपेत्**—इनकी अवज्ञा या निन्दा न करे। **न बान्धव" कुर्यात्**—भाई-बन्धु, अनुरागी (प्रेमी), आपत्ति में सहायता करने वाले (कृच्छ्रद्वितीय) और रहस्य जानने वाले (घर की गुप्त बातें जानने वाले) को कभी अपने से अलग न करे।

न अधीरः—धैर्य-रहित न हो। **न अत्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात्**—स्वाभिमान को अहंकार का रूप न दे दे। **न अभृतभृत्यः**—भृत्यों आदि का पालन करे; अथवा उनकी भृति (वेतन) आदि को न दबा ले। **न अविश्रब्ध-स्वजनः**—ऐसा काम न करे, जिससे स्वजन भी विश्वास करना छोड़ दें। **नैकः सुखी**—अकेला ही सुखी न हो—अपने सुख में दूसरों को भी हिस्सा

दे। न दुःशीलाचारोपचार —दुराचार और दुराचारियों से अपने को दूर रखे।

सर्वविश्रम्भी—सर्वेषु विश्वासी। न सततकालविचारी—हर समय विचारों में ही न डूबा रहे। न कार्यकालम् अतिपातयेत्—कार्य करने के समय को ऐसे ही न गँवा दे। न अपरीक्षितम् अभिनिविशेत्—अपरीक्षित कार्य में एकदम न लग जाए। न चञ्चल०—चञ्चल मन को खुला ही न छोड़ दे। न आदध्यात्—बुद्धि और इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) पर अत्यन्त भार न डाले। दीर्घसूत्री—आलसी। न शोकहर्षौ अनुविदध्यात् (अनु + वि — धा, विधिलिङ्)—शोक या हर्ष में आकर आपे से बाहर न हो जाए। न शोकम् अनुवसेत्—चिरकाल तक शोक में ही न पड़ा रहे। न सिद्धौ०—सफल होने पर दर्पित न हो, न असफल होने पर दुःखी।

प्रकृतिम् अभीक्ष्णं स्मरेत्—प्रत्येक कार्य करते हुए अपनी प्रकृति (अपनी सीमा, शक्ति आदि) का निरन्तर ध्यान रखे। हेतुप्रभावनिश्चित स्यात्—कर्मों का फल निश्चय ही रहेगा, यह हमेशा ध्यान रखे। हेत्वारम्भनित्य —समस्त कर्मों (आरम्भ) में ध्येय (हेतु) को सदा अपने सामने रखे। न कृतम् इत्याश्वसेत्—कार्य समाप्त हो गया सो अब आश्वस्त न हो जाए, निठल्ला न बैठे। न अपवादम् अनुस्मरेत्—किसी के द्वारा की गई निंदा का स्मरण न करे, अपना शुभ कर्म करते हुए लोकापवाद से न डरे।

८—न यत्राग्नि प्रभवति

आर्यशूर-कृत 'जातकमाला' अथवा 'बोधिसत्त्वावदानमाला' में पञ्चतन्त्र की तरह उपदेश-प्रधान कथाओं का संग्रह है। चम्पू-काव्यों की भाँति इसमें भी गद्य-पद्यमयी भाषा का प्रयोग हुआ है, किन्तु उपदेश-

युक्त होने के कारण जातकों को चम्पुओं से पृथक् मान कर नीति-कथा की कोटि में रखा जाता है। जातकों में भगवान् बुद्ध के जन्म-जन्मान्तरों की कहानियां वर्णित हैं। हर कथा के प्रारम्भ में नीति, उपदेश या शाश्वत सत्य की कोई बात कही जाती है, और इसी के दृष्टान्त-स्वरूप कथा का वर्णन किया जाता है। अन्त में उसी उपदेश की पुनरावृत्ति कर कथा समाप्त की जाती है। जातक-कथाओं के ये सामान्य लक्षण प्रस्तुत कथा पर भी घटित होते हैं।

आर्यशूर के एक ग्रन्थ का ४३४ ई० में चीनी भाषा में अनुवाद किया गया था। अतः उनका स्थिति-काल ईसा की तीसरी शताब्दी के आस-पास माना जा सकता है। ६७१-६९४ ई० में भारत-भ्रमण करने वाले चीनी पर्यटक इत्सिंग का कहना है कि 'जातकमाला' बौद्धों में बड़ी लोकप्रिय है और उसका बहुत पठन और प्रचार है। अजन्ता और सारनाथ के भित्तिचित्रों में 'जातकमाला' के कतिपय वर्णनों की झांकी देखी जा सकती है। जातकमाला' का प्रथम मुसम्पादित संस्करण १८९१ में अमरीका के हार्वर्ड-विश्वविद्यालय में प्रकाशित हुआ था।

आर्यशूर की भाषा सरल, सरस और मनोहर है। गद्य-काव्य के जो लक्षण सुबन्धु और बाण में जाकर परिपक्व हुए हैं, वे यहाँ मर्यादित रूप में देखे जा सकते हैं। दीर्घ समासों का प्रयोग होते हुए भी वह विरल, और अक्लिष्ट है। भाषा का अलङ्करण सुरुचिपूर्ण है। पद्यों में काव्यत्व और लालित्य है। किशोरों और तरुणों को सत्य, सदाचार, शील और लोकोपकार-जैसे गुण हृदयङ्गम कराने के लिए आर्यशूर की कथाएँ बड़ी रोचक और उपादेय हैं।

प्रस्तुत कथा में एक सरल-स्वभाव वर्तकापोतक (बतख-बच्चे) की कहानी वर्णित है। एक छोटे-से कथानक में कुशल लेखक ने धर्म, सदाचार और आत्मबल की महत्ता अनूठे ढंग से समझा दी है। बच्चा छोटा है, पर उसमें धर्म-अधर्म का ज्ञान है; उसका शरीर कमजोर है, पर आत्मा सशक्त है। जब लपलपाती दावाग्नि के सामने वह अपनी

विवशता बालोचित सरलता के साथ रख देता है, तब प्रतिपक्षी का हृदय सहज ही पसीज उठता है।

[पृ०४५] सत्य करणीय—सत्य में उज्ज्वल वाणी का उल्लंघन करने में अग्नि भी असमर्थ है, इस सत्य-वचन में विश्वास (अभियोग = अभिनिवेश) कीजिए। सत्यपरिभाविनाम्—सत्येन ऋतेन परिभाविता तेजोमयीम्। लङ्घयितुं न प्रसहते—अतिक्रमितुं न समर्थ भवति। तद्यथानुश्रूयते—जैसा कि सुना जाता है—

अरण्यायतने—अरण्यस्य वनस्य आयतनं स्थानं तस्मिन्, किसी जंगल में। वर्तकापोतक—वनचटकशिशु, बटेर का बच्चा। स कोप—कतिपयदिवसाभिक्रमे अण्डमध्यात् निर्गत, उसे अण्ड से निकले कुछ ही दिन हुए थे। प्रविरोक्ष्यमाणतनुपक्ष—प्रविरोक्ष्यमाणौ (प्र+वि+रुह्+स्य+शानच्) उपलक्ष्यमानौ तरुणौ कोमलौ पक्षौ यस्य स, उसके नरम-नरम पंख निकल रहे थे। [पृ०४६] परि प्रदेश—परिदुर्बलत्वात् क्षीणतया अनवधमाणा अदृश्यमाना अङ्गाना प्रत्यङ्गानां च प्रदेशा सन्धिस्थलानि, वह इतना कमजोर था कि उसके अंग-प्रत्यंगों के जोड़ों का पता ही नहीं चलता था। तृण नीडे—तृणगहन तृणकुञ्ज तेन उपगूढे आच्छन्ने गुल्मलता गहनतरौ तस्या सनिश्चित रचित नीडे तस्मिन्, वह अपने माता-पिता द्वारा घनी झाड़ियों के बीच प्रयत्नपूर्वक रचे गए घोंसले में अपने बहन-भाई (सम्बहुले = बहुसरयकै) भाइयों के साथ रहता था। तथावस्थोऽपि—इस दशा में भी, पक्षी-योनि में आ पड़ने पर भी। अपरिलुप्तधर्मसंज्ञत्वात्—धर्म का ज्ञान लुप्त न होने के कारण। उपहृतान्—लाए गए। प्राणिन—कीटादीन्। अभ्यवहर्तुम्—खादितुम्। न्यग्रोध—वट। उपहृतु (उप+हृ+णिच्) लाते थे। वर्तयामास—जीवनवृत्ति चलाए, घासों के बीज और बरगद के फल आदि जो कुछ उसके माता-पिता लाते थे, उन्हीं से वह अपना निर्वाह करता था। रूक्षाल्पाहारतया—रूखा और थोड़ा भोजन करने के कारण। काय—शरीरम्। न पुष्टिम् उपययौ—हृष्ट-पुष्ट नहीं हुआ। नापि पक्षौ०—और न उसके

पंख ही भली भाँति उगे। प्रविरुरोहतुः—प्र + वि + रुह्, लिट् प्रथम-पुरुष द्विवचन। यथोप०—जो कुछ भी आहार लाया जाता उसे। अभ्य-वहरन्तः—खादन्तः। धर्मता हि एषा—यह तो (शरीर का) धर्म ही है कि पौष्टिक भोजन करने पर वह पुष्ट होगा) यद्युत—क्योंकि—

धर्माधर्म०—अर्थात् धर्म और अधर्म का विचार न करके सब कुछ खानेवाला (सर्वाशी) व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट रहता है (सुखम् एधते), किन्तु धर्म की ओर प्रवृत्ति रखकर चुनी हुई चीजें खानेवाला (विचिताशी) व्यक्ति संसार में दुःखी रहता है।

ह्रीमता०—सदाचारी (शुचिगवेषिणा), निर्दोष साधनों से आजी-विका चलानेवाला (शुद्धाजीवेन जीवता), नियमित जीवन बितानेवाला (संलीनेन), धर्मभीरु (अप्रगल्भेन) तथा संकोचशील (ह्रीमता) व्यक्ति के लिए संसार में जीवन-यापन करना कठिन (दुर्जीवम्) हो जाता है।

वनदावः—वनवह्निः, दावाग्नि। प्रति निनदः—प्रतिभय सभयं प्रसक्तः निनदः शब्दः यस्य सः, जिसका शब्द डरावना था। विजृम्भमाण-धूमराशिः—विजृम्भमाणा विसर्पमाणा धूमराशिः यस्य सः, जिसमें धुएँ के अम्बार उठ रहे थे।

विकीर्ण स्फुलिंगः—विकीर्यमाणा प्रसरन्त्य या ज्वालावलय, तासु लोला चञ्चला विस्फुलिङ्गा अग्निकणा यस्य सः, जिसकी फैलती हुई लपटें चिनगारियाँ बरसा रही थी। सन्त्रासनः वनचराणाम्—वन में रहनेवाले जीवों को त्रस्त करनेवाला। अनयः (अरक्षक भक्षक) वन-गहनानाम्—घने जंगलों को निगलनेवाला।

भयद्रुतो०—मुख्य वाक्य है, तत् वनं आर्त्येव भृशं ररास—वह वन मानो पीड़ा के कारण (आर्त्या इव—दाहजनितक्लेशेन इव) ज़ोर-ज़ोर से विलाप करने लगा। शेष शब्द वनम् के विशेषण हैं। समन्तात्—सब ओर से। भय···सार्थम्—भयेन द्रुता पलायिता, उद्भ्रान्ताः सोद्वेगाः विहङ्गसार्थाः पक्षिसमूहाः यस्मिन् तत्, जिसमें डर के मारे पक्षियों के समूह उद्विग्न होकर सब ओर भाग रहे थे। परि···मृगम्—परिभ्रमन्तः

परितः धावन्तः भीताः च मृगाः हरिणादयः यस्मिन् तत्, जिसमें भयभीत हिरन चारों ओर दौड़ रहे थे। **धूमौघमग्नम्**—धूमौघे धूमपटले मग्नम्, जो धुएँ के समूह में डूब गया था। **पटुवह्निशब्दम्**—पटुः महान् वह्नि-शब्दः दावाग्निध्वनिः यत्र तत्, जिसमें दावानल की चारों ओर से आवाज हो रही थी। **ररास** (रस+लिट्)—शब्द चकार, विलाप इव इति भावः।

पटुना [illegible] **सारी**—घने घास का अनुसरण करती हुई आग, जिसे मानो तेज हवा भड़का रही थी। **उत्पीड्यमानः** (उत्+पीड्+णिच्+शानच्)—निद्रावित। **भयविरसव्याकुलविरावाः**—भय से व्याकुल होने के कारण जो बुरी तरह चीख रहे थे। **परस्परनिरपेक्षाः**—एक-दूसरे की परवाह न करते हुए। **समुत्पेतुः**—उड़ गए। **असम्भ्रान्तः**—बिना घबराए हुए। **निदिता०**—जिसे अपने प्रभाव का बोध था। **महासत्त्वः**—जिसकी (आत्मिक) शक्ति महान् थी। [पृष्ठ ४७] **सरभसम् इव उपसर्पन्तम्**—जो मानो तेजी से आगे बढ़ रहा था। **व्यर्थाभिधानचरणः**—व्यर्थौ अभिधानमात्रौ चरणौ पादौ यस्य सः, चलितुम् असमर्थत्वात्, मेरे दोनों पैर केवल नाम के हैं। **अविरूढपक्षः**—न विरूढौ अप्ररूढौ पक्षौ यस्य सः, उत्पतितुम् असमर्थः इत्यर्थः, मेरे दोनों पंख उगे नहीं हैं। **त्वत् सम्भ्रमात्**—त्वद् उद्वेगभयात्, तुम्हारे भय से। **प्रडीनौ**—उड्डीय अन्यत्र गतौ, कहीं उड़ गए हैं। **त्वयोग्य०**—तुम्हारा आतिथ्य करने योग्य (तुम्हारे स्वागत करने योग्य) यहाँ कुछ भी नहीं है। **अस्मात्०**—इसलिए हे अग्नि, तुम्हारा यहाँ से लौट जाना ही उचित है।

विपुल[illegible] **कक्षे**—विपुलानि [illegible] समस्तानि सान्द्राणि तृणानि यत्र तस्मिन् [illegible] शुष्कतृणवनसमूहे, सूखे और घासवाले वन-स्थान में भी। **उदीर्यमाणः** (उत्+ईर्+शानच्)—वृद्धि [illegible] यमान, हवा से बढ़ाए जाने पर भी। **नदीमिव०**—वह आग (बोधिसत्त्व-रूपी) उस वनस्थ-पक्षी की वाणी सुनकर उसी क्षण शान्त हो गई, मानो वह बाढ़-वाली किसी नदी तक पहुँच गई हो। **विवृद्धतोयाम्**—[illegible], जिसका पानी किनारों से ऊपर चढ़ आया हो।

अद्यापि०—आज भी हवा से परिवर्धित लपटोंवाला दावाग्नि हिमालय के उस प्रसिद्ध स्थान तक पहुँचकर, मन्त्र से शापित अनेक सिरोंवाले सांप के समान, संकोच के कारण, अपनी चचल लपटों को शिथिल कर शान्त होता जा रहा है। **सङ्कोच०**—सङ्कोचेन अवरोधेन मन्दं शिथिलं लुलितम् अल्पीभूतम् अर्चिः ज्वाला यस्य सः।

तत् किमिदम् उपनीतम्—यह क्या हो गया? **वेलामिव०**—जैसे उफनती हुई लहरों-रूपी फनोंवाला समुद्र तट को नहीं लाँघ सकता, प्रचलिताः ऊर्मयः तरङ्गाः एव फणाः शिरांसि यस्य सः। **शिक्षाम्०**—जैसे कोई सत्यवादी बोधिसत्त्व द्वारा दी गई शिक्षा का उल्लंघन नहीं कर सकता। **सत्यात्मनां कृशानुरपि**—वैसे ही अग्नि भी सत्य पर दृढ़ रहनेवालों की आज्ञा का उल्लंघन करने में असमर्थ हो गया। **सत्यम्, अतः न जह्यात्**—इसलिए सत्य को नहीं छोड़ना चाहिए।

९—दारगुणाः

'दशकुमारचरित' से लिये गए इस 'गोमिनी-वृत्तान्त' में एक आदर्श गृहिणी की उन विशेषताओं पर रोचक ढंग से प्रकाश डाला गया है, जो आज भी हमारे समाज में समादृत हैं। अंग-प्रत्यंग का नैसर्गिक लावण्य, पाक-कला-प्रवीणता, कुशल गृह-प्रबन्ध तथा, सबसे अधिक, पति के दोषों की उपेक्षा और उसीके प्रिय एवं हित की चिन्ता भारतीय पत्नी के विशिष्ट गुण हैं। सच तो यह है कि उसके गुण-निर्भर हृदय में पति के अवगुणों के लिए स्थान ही कहाँ है—गुणनिर्भरे मम हृदये तव दोषा न सन्ति।

शक्तिकुमार नामक एक धनी नवयुवक गुणवती पत्नी की खोज में निकल पड़ता है। चतुर पत्नी की उसने एक विचित्र कसौटी बना रखी है। केवल एक कुमारिका इस कसौटी पर खरी उतरती है। थोड़े-से

धान से ही वह कुशलतापूर्वक उसके लिए अनेक व्यंजनयुक्त सुस्वादु भोजन तैयार कर देती है। अपने शिष्टाचार, साफ-सुथरेपन और अकृत्रिम सौन्दर्य से उसे मुग्ध कर देती है तथा विवाह के बाद, उसके कुपथगामी होने पर भी, अपनी अविचल निष्ठा द्वारा पुनः उसका हृदय जीत लेती है। दण्डी की पद-लालित्यमयी शैली में इस मनोहर कथा का प्रभाव द्विगुणित हो जाता है।

[पृ० ४८] द्रविडेषु—कावेरी के दक्षिण-पूर्व में स्थित समुद्र-तटवर्ती भू-भाग। काञ्ची—आधुनिक काञ्जीवरम। अनेककोटिसार—बहुकोटि-सम्पन्न, जिसके पास करोड़ों रुपए थे। श्रेष्ठिपुत्र—सेठ का लड़का, वणिक्-पुत्र। देशीय—शब्द के अन्त में इस प्रत्यय का प्रयोग 'लगभग' या 'कुछ कम' के अर्थ में किया जाता है। आपेदे—प्राप्तवान्। अदारा-णाम्—अपत्नीकानाम्। 'दार' शब्द नित्य पुलिङ्ग और बहुवचन है। अननुगुणदाराणाम्—अननुगुणा प्रतिकूला दारा येषां तथाभूतानाम्। सुखं नाम नास्ति—उन्हें नाम को भी सुख नहीं मिलता। 'न गृहं गृह-मित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।' पत्नी का न होना और प्रतिकूल पत्नी का होना दोनों ही बातें दुःखदायी हैं। तत् कथम्०—सो मैं कैसे गुणवती भार्या (कलत्र) प्राप्त करूँ?

परप्रत्ययाहृतेषु—परस्य अन्यस्य प्रत्ययेन विश्वासेन आहृतेषु संगृहीतेषु परिणीतेषु। याद्दच्छिकीम्—स्वेच्छानुरूपाम्। सम्पत्तिम्—गुणान्। अनभिसमीक्ष्य—अदृष्ट्वा, अर्थात् दूसरों द्वारा पसन्द की गई लड़कियों में इष्ट गुणों की सम्भावना न देखकर। कार्तान्तिको नाम भूत्वा—ज्योतिषी का बाना पहनकर। वस्त्रान्त०—वस्त्रान्तेन वसनप्रान्तभागेन निबद्धं बद्धं शालिप्रस्थं धान्यसमुदायं येन सः, वस्त्र के छोर में एक प्रस्थ (एक सेर) साठी के धान बाँधकर। लक्षणज्ञः अयम् इति—उसे 'लक्षणज्ञ' (ज्योतिषी, शरीर के सामुद्रिक शास्त्रोक्त लक्षणों का ज्ञाता) जानकर। यां यामपश्यत्—जब वह कोई ऐसी लड़की देख पाता, जो उसकी सजातीय और सुलक्षणा होती, तो उससे कहता। भद्रे हारयि-

तुम्—हे कल्याणी, क्या तुम इन एक प्रस्थ धानों से हमें बढ़िया भोजन खिला सकती हो ? अभ्यवहारयितुम्—खादयितुम् । हसितावधूतः—कृतोपहासतिरस्कृतः ।

शिविषु—शिवि लोगों के प्रदेश में । पत्तने—नगरे । सह पितृभ्याम् अवसितमहर्द्धिम् (अवसिता नष्टा महती ऋद्धिः भूतिः यस्या ताम्)—माता-पिता के साथ जिसकी सम्पत्ति भी नष्ट हो चुकी थी । अवशीर्ण-भवनसाराम्—जिसके घर का मूल्यवान् सामान नष्ट हो गया था; अथवा जिसका केवल एक टूटा-फूटा मकान बच रहा था । विरलभूषणाम्—स्वल्पालङ्काराम् । संसक्तचक्षुः—आबद्धदृष्टिः, उस पर नजर जमाकर । अतर्कयत्—मनसि विचारयामास । न अतिस्थूलाः—न बहुत मोटे । न अतिकृशाः—न बहुत दुबले । ह्रस्वाः=छोटे । विकटाः—कर्कशाः, डरावने । मृजावन्तः—मृजा शुद्धिः तद्वन्तः, स्वच्छता से युक्त, साफ-सुथरे । रक्ततलाङ्गुली (करों का विशेषण)—लाल हथेलियों और उँगलियों-वाले । यव लाञ्छितौ—जौ, मछली, कमल, कलश आदि कई शुभ आकृतियों से चिह्नित । ये चिह्न धन, सन्तान, सौभाग्य आदि के सूचक होते हैं । समगुल्फसन्धी (अङ्घ्री का विशेषण)—सम और सुडौल टखनों और जोड़ोंवाले (पैर) । मांसलौ अशिरालौ (पैरों के विशेषण)—जो मांस से भरे हुए हैं तथा जिनकी नसें उभरी हुई नहीं हैं । तनुतर··· मण्डलम्—नाभि छोटी-सी और कुछ-कुछ गहरी है । धन ··तले (बाहुलते का विशेषण)—धन, धान्य और पुत्र की सूचक रेखाओंवाली हथेलियों से युक्त । भूयस्त्वम्=बाहुल्यम् । चिह्नलेखाः—रेखाकाराणि । स्निग्ध··· मणी—स्निग्धाः उदग्राः कोमलाश्च नखमणयः ययोः ते, जिसके मणि-तुल्य नख चिकने, उभारदार और कोमल हैं । ऋज्व०—हाथों की उँगलियाँ सीधी (ऋजु), क्रमशः गोल होनेवाली (अनुपूर्ववृत्त) तथा गुलाबी (ताम्र) हैं । संनतांसदेशौ—संनतौ नम्रौ अंसदेशौ स्कन्धौ ययोः तादृशौ, कन्धे सचके हुए नहीं, बल्कि ढलवाँ और सुडौल हैं । सौकुमार्य-वत्यौ—मुलायम । निमग्नपर्वसन्धी—जिनमें जोड़ों की गाँठें दबी हुई हैं,

दिखाई नहीं देती। **तन्वी**—पतली। **कम्बुवृत्तबन्धुरा**—कम्बुवत् शङ्खवत् वृत्ता वर्तुला बन्धुरा नतोन्नता, शंख-जैसी गोल और ऊँची-नीची (धारी-दार)। **कन्धरा**—ग्रीवा। [पृ० ४६] **वृत्तमध्यविभक्तरागाधरम्** (यह और बाद के पद आननकमलम् के विशेषण हैं)—जिसके ऐसे गोल-गोल होठ हैं, जिनमें बीच के स्थान पर ऊपर-नीचे के होंठों का राग (गुलाबी-पन) अलग-अलग दिखाई पड़ता है। **असंक्षिप्तचारुचिबुकम्**—जिसकी ठोडी भरी-पूरी (असंक्षिप्त, स्पष्ट दिखाई देनेवाली) और सुन्दर है। **आपूर्ण मण्डलम्**—आपूर्णं सम्यक् पुष्टं कठिनम् अशिथिलं गण्डमण्डलं कपोलदेशः यत्र तादृशम्, जिसके गाल पूर्णतया पुष्ट (विकसित) और दृढ हैं। **असङ्ग लतम्**—जिसकी लता-जैसी भौंहें बिना मिली हुई (असङ्गत), मुड़ी हुई (अनुवक्र), काली (नील) और चिकनी (स्निग्ध) हैं। **उन्नत नासिकम्**—जिसकी नाक अधिक बड़ी नहीं (अनतिप्रौढ़, छोटी है और तिल के फूल की तरह है। **असित क्षणम्**—जिसकी बड़ी-बड़ी (आयत) आँखों में काली (असित) पुतली के साथ सफेद (धवल) भाग के अन्दर कहीं-कहीं लाल (रक्त) डोरे भी पड़े दिखाई देते हैं, इस तरह उनकी आँखें तीन भागों में युक्त हैं, उन आँखों में चमक (भासुर) और नजर में मिठास (मधुर) है, पुतलियाँ यद्यपि अधीर-सी बनी फिरती हैं, फिर भी उनकी हरकत (सञ्चार) में अलसता का भाव है। **इन्दु०**—माथा स्वच्छ और सुन्दर है, मानो चाँद का टुकड़ा किसी ने ला रखा हो। **इन्द्र पङ्क्ति**=बालों की लट एक कतार में पड़ी हैं, ये ऐसी मनोहर (रम्य) हैं कि नीलम की शिला का आभास होता है। **द्विगुण युगलम्**—द्विगुणं द्विरावृत्तं यथा तथा कुण्डलितेन कुण्डलीकृतेन म्लानेन ईषन्मलिनेन नालीकनालेन पद्मवृन्तेन ललितं सुन्दरं लम्बमानं श्रवणपाशयोः कर्णपाशयोः युगलं द्वयं यत्र तादृशम्, जिसके दोनों सुन्दर कानों में मुरझाई, दोहरी लिपटी कमल-नाल लटक रही हैं। **अनतिभङ्गुर**—अत्यधिक टेढ़े (घुँघराले) नहीं। **बहुल**—घने। **पर्यन्ते अपि अकपिलरुचि**—किनारों पर भी भूरापन (फीकापन) नहीं

है। आयामवान्—आयामः दैर्घ्यं तद्वान्, लम्बे। एकैकनिसर्गसमस्निग्ध-नीलः—प्रत्येक बाल स्वाभाविक तौर पर एक-सा चिकना और काला है। गन्धग्राही—सुगन्धयुक्त। मूर्धजकलापः—केशभागः। सेयम् शीलम्—ऐसी आकृतिवाली स्वभाव से भी बुरी नहीं होगी। तुलना कीजिये—'न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति।' आसज्जति—सक्तं भवति, इसकी ओर मेरे मन का रुझान हुआ। उद्वहेयम्—परिणेष्यामि, विवाह करूँगा। अविमृश्य ··· परम्पराः—जो लोग बिना सोचे-विचारे कोई काम कर बैठते हैं, उन्हें बार-बार पछताना पड़ता है। अविमृश्यकारिणाम्—हठकारिणाम्। अनुशयपरम्पराः=पश्चात्तापाः। पतन्ति—भवन्ति इत्यर्थः। स्निग्धदृष्टिः—स्नेहपूर्ण दृष्टि से। सम्पन्नम्—सम्पादितम्, तैयार किया हुआ। अभ्यवहारयितुम्=भोजयितुम्।

साकूतम्—साभिप्रायम्। आदाय—गृहीत्वा। अलिन्दोद्देशे—द्वारोपान्तप्रदेशे, दरवाजे के पास दरामदे में। सुसिक्तसंमृष्टे—जो भली भाँति जल से छिड़का गया तथा झाड़ा-बुहारा गया था। दत्तपादशौचम्—दत्तम् अर्पितं पादशौचं पादप्रक्षालनार्थं जलं यस्मै तम्, पैर धोने का जल देकर। उपावेशयत्—उपवेशितवती, बैठा दिया, वृद्धदासी इति शेषः। गन्धशालीन्—गन्धयुक्तान् व्रीहीन्, सुगन्धवाले धान। संक्षुद्य—कुट्टयित्वा, कूटकर, छाँट-फटककर। मात्रया ·· परिवर्त्य—उनमें से थोड़े धानों को घाम में डाल दिया और उन्हें लौट-पौटकर (ऊपर-नीचे करके) सुखा दिया। मात्रया अल्पपरिमाणेन। परिवर्त्य इतस्ततः सञ्चाल्य। स्थिर ··· चकार—पक्की डकसार जगह पर मूसल से उन धानों को धीमे-धीमे कूटा और धान के दानों को तोड़े बिना (तुषैः अखण्डैः, अर्थात् ऊपर के छिलके छुड़ाकर) साबुत चावल अलग कर लिए। नातीपृक्तेन मुसल-विशेषेण। 'तुषैः' में तृतीया का प्रयोग 'पृथग्विनानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' सूत्र के अनुसार हुआ है। तुषैः अर्थिनः—जिन्हें धान की आवश्यकता रहती है। 'यहाँ 'तुष' में तृतीया विभक्ति लगने का कारण यह है कि 'अर्थिनः' के योग में इष्ट वस्तु में तृतीया होती है। सूपण ··· क्षमैः

(तुषें का विशेषण) -गहने साफ करने मे समय। अलङ्कारशोधनार्थं स्वर्णकारास्तुषान् गृह्णन्ति इति प्रसिद्ध । लब्धाभि —तन्मूल्यत्वेन प्राप्ताभि । काकिणीभि —कपर्दिकाभि , कौडियासे। स्थिर काष्ठानि—ऐसी लकडियाँ जो तनिक बोझिल हो (स्थिरतराणि=सारवन्ति), न बहुत गीली हो (अनति-आर्द्राणि) और न बिलकुल सूखी हुई हो। किञ्चिद् आर्द्राणि काष्ठानि मन्द मन्द ज्वलन्ति इति भाव । मितपचाम् (स्थालीम् का विशेषण)—स्वल्पपाकिनीम्, निश्चित माप की स्थाली (=पकाने का बतन, हाँडी आदि), जिसम नपे-तुले चावल रँध सके । उभे शरावे—मृत्पात्रयुग्मम्, मिट्टी के दो सरवे । आहर=आनय ।

तयाहृते तया—धाय उस भूसी को बेचकर ये सब चीजे ले आई । अनति उदूखले—(उन चावलो को) ऐसी उखली (म डाला), जो ज्यादा गहरी (निम्न) भी नही थी और न बहुत उथली (उत्तान) थी, जिसका पट (कुक्षि—आभ्यन्तरभाग) अधिक फैला (विस्तीर्ण) न था, जो अर्जुन वृक्ष (ककुभ) की लकडी से बनी थी। लोहपत्र मुसलेन—मूसल से, जिसके मुँह पर लोहे का पत्ता चढा हुआ था, जो समान आकार वाला था (समशरीर), जिसके बीच में हिस्से का पतलापन (तानव) साफ दिखाई देता था, जो अच्छा फैला हुआ (आयत) और भारी (गुरु) था और जो खैर की लकडी का बना था (खादिरेण)। तनोर्भाव ताननम्-चतुर भुजम्—ऐसे ढग से, जिसमे जल्दी-जल्दी (चतुर=चपल) और सलीके से (ललित=सुन्दर) मूसल को ऊपर-नीचे लाने-ले जाने मे बाँहें थक (आयासित) जाती है। [पृ० ५०] उत्क्षेपणम्=ऊर्ध्वीकरणम् । अवक्षेपणम्—अध पातनम् । असकृद् अङ्गुलीभि उद्घृत्य उद्घृत्य (सञ्चाल्य)—(दूसरे हाथ की) उँगलियो से वह उन्हे बार-बार उठाती (ऊपर-नीचे) करती । अवहत्य=सम्पिष्य, कूटकर । शूप तण्डुलान—ऐसे चावल, जिनमे सूप म फटक-फटककर मिट्टी-कक्ड (कण) और तिनके (किशारुक) अलग कर दिए गए हैं। असकृद् अद्भि प्रक्षाल्य—पानी से कई बार धोकर । दत्तचुल्लीपूजा—(अपने घर के चलन के अनु-

सार) उसने (धान के कुछ दानों से) चूल्हे की पूजा की। क्वथितपञ्च-गुणे जले प्राक्षिपत्—अर्थात् चावलों से पाँच गुना पानी हाँडी में खौला कर (क्वथिते=उष्णीकृते) उसमें वे चावल छोड़कर चूल्हे पर चढ़ा दिए। प्रश्लथ ''तण्डुलेषु—जब चावल गलकर (प्रश्लथ) फूल गए। प्रश्लथाः शिथिलाः विलन्ना. इति यावत् अवयवा. येषा तेषु। प्रस्फुरत्सु स्पन्दमानेषु। मुकुला 'नेषु—मुकुलावस्था कठिनभावम् अतिवर्तमानेषु अतिक्रामत्सु, चावलों की पहली कड़ी अवस्था को छोड़कर, फूलकर भात बनने पर (अर्थात् जब चावलों मे कच्चापन न रहा)। संक्षिप्य (मन्दीकृत्य) अनलम्—आँच धीमी कर दी। उपहितमुखपिधानया (स्थाल्या का विशेषण)—उप हितं स्थापित मुखे पिधानम् आच्छादन यस्या. तया, जिसका मुख (तिरछा) ढका हुआ था। अन्नमण्डम् अगालयत्—चावलों का माँड हँडिया से पसा-कर निकाल दिया। दर्व्या च अवघट्ट्य—करछुल से चावलों को चलाकर। मात्रया—(अंशेन) परिवर्त्य—उन्हें थोड़ा ऊपर-नीचे करके। समपक्वेषु सिक्थेषु—सब चावलों के समान रूप से पककर भात बन जाने पर। अधो-मुखीम्—उलटा करके। अवातिष्ठिपत्—(अव+स्था+णिच्, लुङ्, प्रथम पुरुष एकवचन) अवस्थापयामास, रख दिया। इन्धनानि अन्तःसाराणि सम-भ्युक्ष्य (आर्द्रीकृत्य) प्रशमिताग्नीनि—उन लकड़ियों पर, जिनके अंदर सार-भाग मौजूद था, पानी डालकर उनकी आग बुझा दी (प्रशमित)। कृष्णा-ङ्गारीकृत्य—(उन अवजली लकड़ियों के) कोयले कर लिए। तदर्थिभ्यः प्राहिणोत्—जिनको उन कोयलों की आवश्यकता थी, अर्थात् खरीदारों को बेचने के लिए (धाय के हाथ) भेज दिया। एभिः 'दत्वा—इन्हें बेचकर जो कौड़ियाँ मिले उनसे। आमलकम्—आँवला। चिञ्चा=इमली। यथालाभम्—किफायत से।

तथानुष्ठिते च तया—जब धाय उसके कहने के अनुसार सब चीजें ले आई। द्वित्रान् उपदंशान् उपपाद्य (सम्पाद्य)—दो-तीन तरह की सब्जियाँ पकाईं। उपदंशान् व्यंजनानि शाकादीनि। आर्द्र'''गतम्—अर्थात् उसने कोरे सरवों को गीली बालू पर जमाकर उनमें चावलों का माँड भर दिया।

अतिमृदुना शीतलीकृत्य—ताड की पत्तियों से बने पत्ते से धीमी-धीमी हवा (अनिल) करके उसे ठंडा कर लिया। सलवणसम्भारम्—नमक-मसाला मिलाकर। दत्त सम्पाद्य—अंगारों पर (जीरा, हींग आदि डालने से) उठनेवाली सुगन्ध से (मांड को) सुवासित किया, अर्थात् उसमें इनका बघार दिया। तदपि कृत्वा—उस आँवले, इमली को खूब बारीक पीसकर (चटनी बनाकर) उसे कमलों की सुगंध वाला बना लिया (अर्थात् चटनी में से मसालों की कमल-जैसी सोंधी-सोंधी महक उठने लगी)। धात्रीमुखेन—धात्री सम्प्रेष्य, धाय को भेजकर। अचोदयत्—प्रेरयामास, स्नान के लिए कहलाया। स्नानाय—स्नान कर्तुम्। स्नान-शुद्धया—स्वयं स्नानं कृत्वा तया धात्र्या धाय नहा-धोकर पहले ही तैयार हो गई थी। वह नाविककुमार को सिर धोने और मालिश के लिए आँवला-तेल दे आई। सिक्तमृष्टे—(आदौ सिक्त जलेन आर्द्रीकृत पश्चात् मृष्ट शोधित तस्मिन्) कुट्टिमे—(बद्धभूमौ गृहस्य सरे द्वयर्थं) फलक (पीठम्) आरुह्य—(तत्रोपविश्य)—छिड़काव के बाद साफ किये हुए फर्श पर रखे एक पीढ़े पर बैठ गया। पाण्डु उपरि—आँगन में लगे केले के पेड़ के कुछ-कुछ पके पत्ते पर, जिसके (डंठल की तरफ का) एक-चौथाई भाग काट दिया गया था (अर्थात् शेष तीन-चौथाई पत्ता थाली की तरह बिछा दिया गया और उस पर माँड से भरे हुए वे दोना रक्खे रख दिये गए—द्वयशरावद्वयम)। किञ्चिदवशेषे—ज्यों भाग अशा शेषा अवशिष्टो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा छित्वा। आर्द्रम्—ये सरदे पानी में तर है। अभिमृशन्—हस्तेन स्पृशन्, हाथ से सहलाकर (भोजन की प्रतीक्षा में बैठ गया, अतिष्ठत्)। सा समुपाहरत्—अर्थात् उस लड़की ने धाय से नाविककुमार को कहलाया कि पहले इस माँड को पी लीजिए। समुपाहरत्—परिवेषितवती। अपनीताध्वक्लम—दूरीकृतमार्गश्रमा, रास्ते की सारी थकान जाती रही। प्रक्लिन्नसकलगात्र—उष्णमण्डपानात् स्वेद-व्याप्तनिखिलावयव, गरम-गरम माँड पीने से जिसके सारे शरीर में पसीना आ गया था।

शाल्योदनस्य दर्वीद्वयं दत्वा—इसके बाद उस लड़की ने (उसके आगे) दो करछुल साठी का भात परोसा। सूपम्—दाल, जिसमें सर्पिः मात्राम् कुछ घी पड़ा था। उपजहार—अर्पितवती। इमम्—शक्तिकुमारम्। दध्ना च ···अभोजयत्—(भात खा चुकने पर) लड़की ने उसे (सोंठ, मिर्च, पीपल, नमक, हींग आदि) सुगन्धित द्रव्यों वाला दही, सुगन्धदार और ठंडा मट्ठा (कालेमय) तथा महकदार और शीतल कांजी (कञ्जिका) परोसी। त्रिजातकं सुगन्धितद्रव्यविशेषः त्रिकटु वा तेन अवचूर्णितं आलोडितं तेन तादृशेन दध्ना। सशेषं एव अन्धसि (अन्ने) असौ अतृप्यत्—थोड़ा भोजन बच ही रहा था कि वह (शक्तिकुमार) तृप्त हो गया। नवभृङ्गारसम्भृतम् (वारि का विशेषण)—नवे नूतने भृङ्गारे जलपात्रविशेषे सम्भृतं पूरितम्, नई (कोरी) सुराही (झारी) में भरा हुआ। अगुरुधूपधूपितम्—अगरु, धूप आदि से सुवासित। अभिनवपाटलाकुसुमवासितम्—अभिनवैः प्रत्यग्रविकसितैः पाटलाकुसुमैः वासितं सुरभीकृतम्, ताजे पाटल के फूलों से सुगन्धित। [पृ० ५१] उत्फुल्लोत्पलग्रथितसौरभम्—जिसमें खिले हुए कमलों की-सी महक उठ रही थी। नालीधारात्मना—भृङ्गारस्य जलनिर्गमनमार्गः नाली तस्याः धारात्मना धारारूपेण, सुराही में लगी टोंटी से धार बाँधकर (सरवे में) पानी डाला। मुखोपहितशरावेण—सरवे में मुँह लगाकर। हिम···पक्ष्मा—हिमवत् तुषारवत् शिशिरैः शीतलैः कणैः जलबिन्दुभिः करालितानि व्याप्तानि अरुणायमानानि रक्तीभूतानि अक्षिपक्ष्माणि नेत्ररोमाणि यस्य तादृशः, बरफ-जैसे ठंडे पानी के छींटों से जिसकी आँखों की बरौनियाँ लाल पड़ गई थीं। धारा···श्रवणः—सरवे से पानी की धार के गिरने का शब्द उसके कानों को बड़ा प्यारा लग रहा था। स्पर्श···कपोलः—अर्थात् मुँह पर पानी के जो छींटे पड़ते, उनका स्पर्श शक्तिकुमार के लिए इतना सुखप्रद हुआ कि उसके गालों के रोएँ खड़े हो गए, जिससे उसका चेहरा कर्कश (खुरखुरा) हो गया। परिमल···रन्ध्रः—पानी में से गहरी निकलनेवाली (प्रवालोत्पीड) महक से नथुने (घ्राण-रन्ध्र) खूब तर हो गए। माधुर्य···

रसनेन्द्रिय—(पानी मे) मिठास की अधिकता से उसकी जीभ द्रवीभूत (आवर्जित) हो गई। अल्पम्=निमनम्। उत्कण्ठम्—जी भरकर। शिरःकम्पनप्रदर्शिता—(शक्तिकुमार द्वारा) सिर हिलाकर (कन्या को) रुक जाने का इशारा करने पर। पुनरपर०—उसी ने दूसरी सुराही (करकेण) से उसे कुल्ला करवाया। वृद्धया तु०—इस समय तक बूढ़ी धाय ने जूठन साफ कर दी (अपोह्य=दूरीकृत्य)। हरित कुट्टिमे—ताजे गोबर से लिप फर्श पर। स्वमेव=स्वकीयमेव। उत्तरीयकर्पटम्=उत्तरीय-वस्त्रम्। व्यवधाय=आच्छाद्य, बिछाकर।

विधिवद् उपयम्य—विधिपूर्वक विवाह करके। निन्ये—स्वगृह नीतवान्। एतद् अनपेक्ष—(भार्या के प्रति) उदासीन हो गया। गणिकाम्—वेश्याम्। अवरोधम्=पत्नीम्। उपाचरत्—व्यवहार किया। मुक्ततन्द्रा—आलस्यरहिता। पर्यचरत्—सेवा करती रही। अहीनम्—सुचारु। अन्वतिष्ठत्—सम्पादयामास। दाक्षिण्यनिधि—चतुरता की खान। परिजनम्—नौकर-चाकरों को। तदायत्तम्—तस्या अधीनम्। तदेकाधीनजीवितशरीर—तस्या एकस्या अधीनम् आयत्त जीवित प्राणा शरीर च यस्य तादृश। त्रिवर्गं निर्विवेश—त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) को पा लिया। गृहिण गुणा—गृहस्थस्य प्रिय हित च कर्तुं दारगुणा पत्नीगुणा भवन्ति, पत्नी के गुण गृहस्थ का प्रिय और हित करने के लिए ही होते हैं।

प्रस्तुत वृत्तान्त मे तत्कालीन समाज के कुछ रीति-रिवाजो पर भी प्रकाश पडता है—(१) वणिक्-वर्ग मे पुरुषो के लिए १८ वर्ष की आयु विवाह-योग्य मानी जाती थी। विवाह सजातीयो मे होता था। वधू का चुनाव प्राय अभिभावक करते थे, पर कभी-कभी वर स्वय भी करता था। (२) विवाह-योग्य कन्याओ के भविष्य-निर्णय मे ज्योतिषियो के महत्त्व पर भी इस कथा से प्रकाश पडता है। (३) प्राचीन भारत मे स्त्री-सौन्दर्य के क्या मानदण्ड थे और कैसी कन्या सुलक्षणा मानी जाती थी, यह दण्डी ने मुक्त भाव से बताया है। (४) कन्याओ का सौन्दर्य प्रायः निरावरण हुआ करता था। (५) पाक-कला-नैपुण्य विवाहोन्मुख कुमारि-

कार्यों का अपेक्षित गुण माना जाता था। (६) कन्याएँ अजनबियों से बातचीत नहीं करती थीं। (७) धान से चावल अलग करने, भात पकाने, चावल के माँड का एक स्वादिष्ट पेय बनाने आदि क्रियाओं की इस आख्यान से जानकारी मिलती है। (८) रसोई में स्थाली, शराब और दर्वी अनिवार्य पात्र थे। (९) स्नान में तेल, आँवला आदि का व्यवहार किया जाता था। (१०) भोजन के व्यंजनों में भात, नमक-मिला माँड, घी, दाल (सूप), त्रिजातक-युक्त (मसालेदार) दही, दो-तीन उपदंश (साथ लगाकर खाने की चीजें), शाक, इमली, कांजी, मट्ठा, और आँवले की चटनी उल्लिखित हैं। मछली, मिठाई और दूध का उल्लेख नहीं है। (११) भोजन करने का क्रम भी दर्शनीय है। (१२) कौड़ियाँ (काकिणी) सिक्कों के रूप में प्रचलित थीं। वह सस्तेपन का जमाना था। धान के छिलके और अधजली लकड़ियों के कोयले सुनारों को बेचे जा सकते थे।

१०—प्रणम्या दूरतः खलाः

प्रस्तुत गद्यांश सुबन्धु की 'वासवदत्ता' का एक अपेक्षाकृत सरल स्थल है, फिर भी यह उनकी श्लेष एवं विरोधाभास-प्रधान शैली का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करता है। इसमें प्रारम्भ से अन्त तक प्रायः प्रत्येक पद में चमत्कार है, पाण्डित्य है, असाधारण कल्पना है, सूक्ष्म दृष्टि है तथा व्यापक अनुभव का सारभूत वर्णन है। इस गद्यांश के वाक्य छोटे-छोटे हैं, पर उन्हें पूर्णतया समझने के लिए परिश्रम और पौराणिक ज्ञान की अपेक्षा है। दुष्टों के स्वभाव का वर्णन करने के साथ-साथ सुबन्धु पाठक का परिचय अनूठी ज्ञानवर्धक बातों से करा देते हैं। सुबन्धु का यह कौशल संस्कृत-जैसी भाषा में ही सम्भव हो सकता था, क्योंकि

नानार्थ-बोधक शब्दों की जैसी समृद्धि संस्कृत में पाई जाती है, वैसी किसी अन्य भाषा में नहीं। संस्कृत में शब्द-लाघव की जो विशेषता दीख पड़ती है, उसका भी यह गद्यांश अच्छा उदाहरण है। सुबन्धु के छोटे-छोटे वाक्यों को समझाने के लिए काफी लम्बी व्याख्या की आवश्यकता होती है। यह सत्य है कि श्लेष के अतिशय प्रयोग से सरसता कम हो जाती है तथा वर्ण्य विषय की रूपरेखा अस्पष्ट होने लगती है, तथापि इस विशिष्ट शैली की गहरी छाप पाठक के हृदय पर पड़े बिना नहीं रहती।

जब राजकुमार कन्दर्पकेतु स्वप्न में राजकुमारी वासवदत्ता के सम्मोहक सौन्दर्य को देखकर भ्रान्त-सा हो जाता है, तब उसका मित्र मकरन्द उसे सचेत करने के लिए दुर्जनों के आचरण का इन शब्दों में विशद चित्रण करता है।

[पृ० ५१] अनिष्टो हृदयम्—दुष्ट का हृदय (दूसरों का) अहित करने में तृप्ति का अनुभव करता है, अनिष्टस्य उद्भावने उत्पादने परम तृप्तं प्रीतिर्वा तस्मिन् उत्तर प्रवणम्। को समर्थ—उसकी असलियत का कौन पता लगा सकता है? तथाहि—उदाहरणार्थ। इसके बाद विरोधाभास-युक्त श्लिष्ट पदावली आरम्भ होती है। भीमो बकद्वेषी—इस पद का प्रकट अर्थ यह हुआ कि दुष्ट व्यक्ति 'भीमसेन होते हुए भी बक का द्वेषी नहीं है'। यह परस्पर-विरोधी कथन है, क्योंकि भीम ने बक राक्षस का वध किया था, अत इसका सगत अर्थ यह होगा कि 'दुष्ट पुरुष भयकर (भीम) और सज्जनों (बक) से द्वेष करनेवाला होता है'। भीम =(१) भीमसेन, (२) भयकर। नवकद्वेषी—(१) बकस्य बकासुरस्य द्वेषी द्वेष्टा न, (२) नव सौम्य क मन आत्मा वा येषा ते नवका सज्जना तान् द्वेष्टि। आश्र रिक्षा—वह अग्नि होते हुए भी वायु है, अर्थात् अपने आश्रयदाता को नाश करनेवाला तथा माता के प्रति भी कुत्ता बन जाता है (कुत्ते-जैसा क्रूर या अनुचित आचरण करनेवाला बन जाता है)। आश्रयाश —(१) आश्रय स्वाधारभूत काष्ठादिकम् अश्नाति भक्षयति स आश्रयाश वह्नि, (२) आश्रय-

नाशकः । **मातरिश्वा**=(१) मातरि आकाशे श्वयति गच्छति इति मातरिश्वा वायुः; (२) मातरि जनन्या स्वपोषके श्वा कुक्कुरः तद्वत् क्रूरः, अनुचिताचरणः वा। **अति॰ रसः**—वह अत्यन्त कडवा होते हुए भी मधुर होता है, अर्थात् अनेक अनुचित कार्य करनेवाला और बड़ा अरसिक होता है। **अतिकटुः**=(१) कटुरसविशिष्टः; (२) अकार्यबहुलः; अत्यन्त मत्सरी, दूषणयुक्तः वा। **महारसः**=(१) महान् अतिमिष्टः रसः अस्य इति महारस, इक्षु, (२) महान् अरसः अलसः वा, रलयोः अभेदात्। **सर्षपः॰ जहाति**—दुष्ट पुरुष, दोनों हाथ जोड़ने पर भी तथा (पैरों में) सिर रखने पर भी, अपनी क्रूरता नहीं छोड़ता, जैसे सरसों का तेल, दोनों हाथों से मले जाने पर भी और सिर पर लगाने पर भी अपना कडवापन नहीं छोड़ता। **करयुगलालितः**=(१) करयुगेन हस्तयुगेन लालित पूजित (दुष्ट के साथ); (२) लालितः स्पृष्टः (सर्षपस्नेह, सरसों के तेल के साथ)। **कटुत्वम्**=(१) क्रूरताम्, (२) कटुरसत्वम्। **ताल॰ तिक्तश्च**—दुष्ट पुरुष (परिचय के) आरम्भ में मधुर किन्तु अन्त में नीरस और तीखा (तीव्र-स्वभाव) होता है, जैसे ताल-फल (ताडी) चखते ही मीठा प्रतीत होता है किन्तु अन्त में नीरस और तीखा हो जाता है। **आपातमधुरः**=(१) आपाते तदात्वे परिचयारम्भे मधुर मृदुव्यवहारः (दुष्ट के साथ); (२) आपाते पानसमये मधुरः मिष्टः (तालफल के साथ)। **परिणामविरसः**=(१) परिणामे अन्ते विरसः नीरसः (दुष्ट के साथ); (२) परिणामे अवसाने परिपाके विरसः मदजनकत्वात् (तालफल के साथ)। [पृ० ५२] **पादप॰ कषाययति**—दुष्ट पुरुष, तिरस्कृत किए जाने पर भी, मन को पीड़ा पहुँचाता है, जैसे (ऊपर) फेंकी हुई पैर की धूल, उपेक्षा किए जाने पर भी, मस्तक को गंदा कर देती है। **पादपरागः**=चरणधूलिः। **अवधूतः**=(१) उपेक्षितः तिरस्कृतः वा (दुष्ट के साथ), (२) विक्षिप्तः (धूल के साथ)। **कषाययति** (कषाय, नामधातु)=पीडयति, कलुषयति। **विषतरु॰ वृद्धयति**—दुर्जन अधिकाधिक सम्पर्क में आने पर अज्ञान ही प्रकट करता या बढ़ाता है, जैसे विष-वृक्ष का पुष्प जितना अधिक सूंघा

जाता है उतनी ही अधिक मूर्च्छा लाता है। तनुभूयते—(१) परिचीयते (दुष्ट के साथ), (२) जिघ्रचने (पुष्प के साथ)। मोह दृढयति— (१) अज्ञान पराजयति (दुष्ट के साथ), (२) मूर्च्छां दृढ करोति (पुष्प के साथ)। नीच जायते—दुर्जन पुरुष कभी सज्जनों से रहित नहीं होता, जैसे नीची भूमि में जल का अभाव नहीं होता। न दारिद्विरह —(१) न वा अग्निविरह जलविरह (जल के साथ), (२) न दारिद्विरह जनाभाव (निम्न देश के साथ)। निदाघ यहाँ— दुर्जन ईर्ष्यावश सज्जनों को व्यथा पहुँचाता रहता है, जैसे गर्मी के बहुत मक्खियोंवाले दिन पुष्पों की सुरक्षा करते हैं। बहुमत्सर =(१) बहु मत्सर मानयंम् ईर्ष्या यस्य स (जन के साथ), (२) बहवः मत्सराः मक्षिका यस्मिन् स (निदाघदिवस के साथ)। सुमनसां सन्ताप वहति—(१) शुद्धान्तःकरणानां सज्जनानां मनसः पीडां वहति जनयति (जन के साथ), पुष्पाणां सन्ताप म्लानतां वहति करोति (निदाघदिवस के साथ)। अन्ध

दोषतमश्च—दुर्जन पुरुष दूसरों पर दोष लगाने में चतुर तथा सज्जनों आर्जविता का नाश करने में उद्यत रहता है, जैसे अँधेरा रात्रि का अनुसरण करने में चतुर और सूर्य को ढकने में तत्पर रहता है। दोषानुसरणचतुर — दोषाणाम् अनुवर्तने आरोपकरणे (अनुवर्तने वा) चतुर निपुण (जन के साथ), दोषा रात्रि तस्या अनुसरणे अनुवृत्तौ चतुर (अँधेरे के साथ)। विश्व घात —(१) विश्वानि समग्राणि सन्ध्यावन्दनादीनि कर्माणि तेषाम् अनवलोकने परित्यागे उद्यत तत्पर, यद्वा निःश्रेयसकारि जनाना यानि कर्माणि तेषाम् अवलोकने नाशने उद्यत (जन के साथ), (२) विश्वकर्मा सूर्य तस्य अवलोकने आच्छादने अन्तर्धान या उद्यत (अँधेरे के साथ) रक्त

पात —उनका व्यवहार (या ज्ञान) विपरीत होता है, जैसे त्रिलोचन शङ्कर के नेत्र त्रिविध-रूप (रवि, चन्द्र और अग्नि-रूप) होते हैं (अथवा जैसे शिव मित्रों पर, कुष्ठोंपर भी कृपा-दृष्टि रखते हैं)। विरूपाक्ष — (१) विरूप विपरीत अक्षि ज्ञान व्यवहार वा यस्य स (खल के साथ), (२) विविधानि रविचन्द्राग्निरूपाणि अक्षीणि नेत्राणि यस्य स, विरूपेषु

अपि अक्षि कृपादृष्टिः यस्य इति वा (रुद्र के साथ)। विष्णु···धरः—वह चक्रधारी विष्णु के समान कपट-व्यवहार में तत्पर रहता है। चक्रधरः—(१) चक्रं दम्भविशेषः तस्य धरः धारकः (खल के साथ); (२) चक्रं चक्रायुधं तस्य धरः (विष्णु के साथ)। शङ्कास्व···शंसी च—वह समुद्र में उत्पन्न तथा प्रशंसनीय उच्चैःश्रवा नामक इन्द्र के घोड़े के समान उच्चैःश्रवा (दूसरों का काम सुनने में बहरा) बन जाता है तथा कभी भी अपने देशवासी लोगों की प्रशंसा नहीं करता। उच्चैःश्रवाः—(१) उच्चैः अधिकं श्रवः श्रवणं यस्य सः नयोक्तः; परकीयालापश्रवणे तत्परः इत्यर्थः; परकीयकार्यश्रवणे बधिरः इति वा (खल के साथ); (२) उच्चैःश्रवा एतन्नामकः घोटकः। नदेशजप्रशंसी—(१) देशे स्वजनपदे जाताः देशजाः, तान् प्रशंसितुं शीलम् अस्य इति देशजप्रशंसी, सः न भवति; (२) नदानाम् ईशः नदेशः समुद्रः तस्माज्जातः नदेशजः, प्रशंसी प्रशंसावान् च। शरस्य···विलोडयति—दुर्जन, विलग हुए (फिर भी) प्रेम प्रदर्शित करने वाले सज्जनों के अन्तःकरण को क्लेश पहुँचाता रहता है, जैसे मथानी, खूब मथने के कारण ऊपर घी की बूँदें दिखाई देने पर भी, दही को बिलोती ही जाती है। विच्छिन्नस्य—(१) विच्छिन्नसम्बन्धस्य (सज्जन के साथ); (२) भेदितस्य (दही के साथ)। स्नेहम्=प्रेमाणम्; घृतम्। शरस्य=दध्नः। हृदयम्=मनः; मध्यभागम्। विलोडयति=क्लिश्नाति मथ्नाति च। तर्कादः=मन्थनदण्डः। यक्ष···भ्रमणकश्च—दुर्जन आत्म-प्रशंसा में तत्पर तथा (व्यर्थ ही) इधर-उधर घूमता रहता है, जैसे यक्षों को दी जानेवाली बलि कौओं के शब्द से युक्त तथा कुत्तों को इधर-उधर (आसपास) घुमाती है। आत्मघोषमुखरः=(१) आत्मघोषेण आत्मस्तुतिवादेन मुखरः वाचालः (दुष्ट के साथ); (२) आत्मघोषेण काकेन तच्छब्देन मुखरः सशब्दः (यक्षबलि के साथ)। मण्डलभ्रमणकः—(१) मण्डले देशे भ्रमति इति मण्डलभ्रमणः स एव मण्डलभ्रमणकः (दुष्ट के साथ); (२) मण्डलाः श्वानः तान् भ्रमयति इति मण्डलभ्रमणकः (यक्षबलि के साथ)। पिण्डप्राप्तिलोभेन श्वानः बलि-

समीपे परिभ्रमति । मातङ्ग दानश्च—दुष्ट पुरुष अपने चपल मुख को अपने वश में न मानता है (अन्य जनों की मनमानी निन्दा करता है) तथा दान का तिरस्कार करता है (कभी दान नहीं करता), जैसे कोई मद-चुआता हाथी अपनी हथिनी के प्रति चचल-मुख बना रहता है। स्ववशा-लोलमुख —(१) स्ववश स्वाधीनम् आलोल चपल मुख यस्य स (दुष्ट के साथ), (२) स्ववशाया निजकरिण्याम् आलोल स्नेहप्रदर्शनचञ्चल मुख यस्य स (हाथी के साथ)। अधरीकृतदान —(१) अधरीकृत तिरस्कृत वर्जितम् इत्यर्थ दान वितरण येन स (दुष्ट के साथ), (२) अधरीकृतम् अतिवर्षणादधस्तात्कृत प्रच्युत वा दान मदजल येन स (हाथी के साथ)। वृषभ विकल —वह (पापाचरण में) देवताओं से भी भयभीत नहीं होता, जैसे साँड गौ का पीछा दौड़ने से थक जाता है। सुरभियानविकल —(१) सुरभिया न विकल, देवभयेन न विकल विह्वल भीत न (दुष्ट के साथ), (२) सुरभि गा यानेन उपसर्पणेन तद्धावनेन वा विकल परि-श्रान्त (वृषभ के साथ)। कामीव स्खलद्धश—दुर्जन अपने कुलोचित आचार से भ्रष्ट होकर उससे हीन हो जाता है और प्रतिकूल (अनुचित) मार्ग में अनुरक्त रहता है, जैसे कामी पुरुष (कामावेग के कारण) कुछ का कुछ नाम उच्चारण करने से व्याकुल तथा स्त्रियों की खुशामद करने में लीन रहता है। गोत्र धर —(१) गोत्रात वशात् वशाचारात् यत् स्खलन प्रच्युति तेन विधुर हीन (खल के साथ), (२) गोत्रे नाम्नि यत्स्खलन तस्य व्यत्ययेन उच्चारण तेन विधुर व्याकुल (कामी के साथ)। परस्त्रिया में आसक्त कामीजन भूल से कुटुम्बियों के सामने अपनी परकीय प्रेयसी का नाम ले बैठते हैं। वामाध्वानुरक्त —(१) वामे विपरीते लोकवर्जिते अध्वनि मार्गे आचारे अनुरक्त तत्पर (खल के साथ), (२) वामानां स्त्रीणाम् अध्वनि तत्प्रसादनपद्धतौ अनुरक्त कामिनीपरिचर्यातत्पर (कामी के साथ)। जीर्ण वह्नि—दुष्ट पुरुष दूसरों के मधुर और श्रेष्ठ वचनों के प्रति (द्वेषवश) उदासीन हो जाता है (उनकी प्रशंसा नहीं करता), जैसे पुराना रोगी शरीर से दुर्बल और

बात करने में असमर्थ हो जाता है। कलेवरे वचसि—(१) कले मधुरे वरे श्रेष्ठे वचसि (खल के साथ); (२) कलेवरे शरीरे वचसि भाषणे (रोगी के साथ)। मन्दिमानमावहति—(१) मन्दिमानम् औदासीन्यं वहति धारयति (खल के साथ); (२) मन्दिमान कृशतां वहति धारयति। वञ्चक·· रक्तश्च—दुर्जन रिश्वत लेने में अनुरक्त होता है तथा विवाद या नीच स्त्रियों से स्नेह रखता है, जैसे गीदड़ शव-मांस का प्रेमी होता है तथा रात को पसन्द करता है। कटपले=(१) उत्कोचे; (२) शवमांसे। विभावरीरक्तः—(१) विभावर्यां विवादे, कुट्टन्या कुटिलयोषिति वा, रक्तः स्नेहः (खल के साथ); (२) विभावर्यां रात्रौ रक्तः (गीदड़ के साथ)। परेत · दर्शनः—(१) कुटुम्बी जनों के लिए अदृश्य मृत की तरह दुष्ट व्यक्ति बन्धु-बान्धवों के कष्टों को देखता है (किन्तु उनके निवारण का कोई उपाय नहीं करता)। बन्धुतापदर्शनः=(१) बन्धूनां तापं कष्टं पश्यति इति, तेषां कष्टं दृष्ट्वापि तत्प्रतीकारपराङ्मुखः इत्यर्थः (खल के साथ); (२) बन्धुतायाः बन्धुसमूहस्य अपदर्शनः, बन्धुभिः अदृश्यमानः इत्यर्थः (मृत के साथ)। परशु खण्डयति—दुर्जन सत्पुरुषों की लक्ष्मी (ऐश्वर्य) का भी नाश कर डालता है, जैसे कुल्हाड़ी चन्दन वृक्ष को भी काट देती है (उसे चन्दन तथा अन्य वृक्षों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता)। भद्रश्रियम्—भद्राणां साधूनां श्रियं सम्पद्, चन्दन-वृक्षम्। कुदालः ···निकृन्तति—दुर्जन अपने कुल का विनाश कर शान्ति-सम्पन्न लोगों को कष्ट पहुँचाता है, जैसे कुदाली भूमि को खोद देती है और पृथ्वी पर के कीड़े-मकोड़ों को काट डालती है। दलितगोत्रः—(१) दलित विनाशितं स्वाचारेण अप्रतिष्ठां नीतं वा गोत्रम् स्ववंशः येन सः (दुष्ट के साथ); (२) दलिता जाता गोत्रा भूमिः येन सः (कुदाल के साथ) क्षमाभाजः प्राणिनः—शान्तियुतान् मनुष्यान्; भूमिस्थान् कीटादीन्। निकृन्तति—क्लिश्नाति; छिनत्ति। रति·· साधून्—वह कुत्ते की तरह नीच कार्यों में संलग्न होकर सत्पुरुषों को लज्जित करता है। रतिकीलः=श्वा। दुष्ट·· मोदते—(अनेक पापाचरण करने से) दुष्ट जन की मुख-श्री फीकी पड़ जाती

है, तथा वह सकार से युक्त और उलटे पढ़े जानेवाले 'यवस' (सवयस =सुहृद्) का भी अभिनन्दन नहीं करता, जैसे दुष्ट हाथी वन में जाने की इच्छा से सदा पास में रखे हुए तृण आदि को भी पसन्द नहीं करता। शूर्पश्रुति —शूर्पवत् श्रुती श्रवणे यस्य स शूर्पश्रुतिः गजः। काननरुचि — (१) का ईषत् कुत्सिता वा आननरुचिः मुखकान्तिः यस्य सः (खल के साथ), (२) कानने वने रुचिः प्रीतिः यस्य सः (हाथी के साथ)। अनुगतमपि यवस सकारम्—(१) अनुगत पश्चात् गत प्रातिलोम्येन पठितम्, सतत मेन सकारेण नत स्थापितं युक्तम् इत्यर्थः प्रतिलोमपठित सकारयुक्तश्च य यवसशब्दः स्वयस ... जात तद्वाच्य सुहृदम् अपि इत्यर्थः (दुष्ट के साथ), भाव यह है कि 'यवस' शब्द को उलटा पढ़ने से 'सवय' शब्द बनता है और इसमें 'स' जोड़ देने से 'सवयस' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'सुहृद्' होता है, दुष्ट पुरुष 'सवयस' का भी अभिनन्दन नहीं करता, (२) सतत सर्वदा अनुगत सौरभ्येण प्राप्तम् अपि यवसतृणं नानुमोदते (हाथी के साथ)। अबीज अङ्कुरा—(साधारण संसार में अङ्कुर बीज से ही उत्पन्न होता है और शाखाओं द्वारा ही बढ़ते देखे जाते हैं, किन्तु) दुर्जनों द्वारा उत्पन्न किये गए दुष्कर्म-अङ्कुर बिना कारण ही पैदा होते और अवसर बिना ही बढ़ते देखे जाते हैं। अबीजात्—बीज बिना, हेतु बिना। अकाण्डात्—स्कन्ध बिना, अवसर बिना। उपच्छेत्तुम् =उन्मूलयितुम् अशक्या।

दोषलव =दूसरा का जरा-सा भी दोष। करालायते=भयंकर रूप धारण कर लेता है, कराल भीषणम् इव आचरति, भयावह भवति इत्यर्थः। पारद =पारा। सज्जन दूसरों के दोष को तुरन्त भूल जाते हैं। मृगा नायव—सज्जन मनोरञ्जन की प्रवृत्ति के लेश-मात्र भी वश में नहीं होते, जैसे हरिण उस व्यक्ति के वश में नहीं आते, जो पक्षियों को रिझाने में प्रवीण है (पर मृगों के आखेट में अनभिज्ञ है)। विनोदविन्दो =(१) विनोदस्य आलिङ्गनस्य तदाश्रयाङ्गनानिषयस्य वा बिन्दुः प्रकृतिः स्वभावः तस्य (सज्जन के साथ),

(२) वीनां पक्षिणा नोदः प्रेरणा विनोदः तत्र विन्दुः ज्ञाता विनोदविन्दुः पक्षिरमणपटुः (मृगा. के साथ)। इस वाक्य का एक और अर्थ यह भी हो सकता है कि 'विनोदविन्दु (व्याध) के वश में हो जानेवाले मृगों की तरह सज्जन विनोद के वशीभूत नहीं होते।' हि=किन्तु। भवादृशाः—तुम्हारे जैसे कामासक्त लोग। हरन्ति—(१) नाशयन्ति (भवादृशा: के साथ); (२) जनयन्ति (शरत्समया. के साथ)। मित्रमण्डलस्य—(१) सुहृत्समूहस्य (भवादृशा के साथ); (२) सूर्यमण्डलस्य (शरत्समय. के साथ); अर्थात् जहाँ तुम-जैसे कुपथगामी अपने मित्रवर्ग का सुख छीन लेते हैं, वहाँ शरत्काल (मेघादि उपद्रवों का नाशकर) सूर्य-मण्डल को सुख पहुँचाता है। मित्रमण्डलस्य हरन्ति (सूर्यस्य जनयन्ति), शेषत्वविवक्षया षष्ठी। सचेतनाः—ज्ञानी, विवेकी पुरुष। विसदृशम्—विपरीतम्। अचेतना ''निर्विरता—अचेतन जड़ वर्ग भी योग्य या अनुरूप वस्तुओं के प्रति मित्रता निभाता है। उदाहरणार्थ, माधुर्य ' वारिणा क्रीयते—इस वाक्य का भाव यह है कि 'जल और दूध में मित्रता होती है, क्योंकि एक तो दोनों का एक ही नाम (पय.) है और दूसरे दोनों में मधुरता, शीतलता, निर्मलता, ताप-निवारण आदि गुण हैं। साथ ही (दूध में जल का भी अंश होता है और यह) जल दूध के संसर्ग से ही बहुमूल्य माना जाता है। अतः जब दूध को औटाया जाता है, तब मित्रभाव से प्रेरित हो जल सोचता है कि पहले मुझे ही जलना चाहिए, इसीलिए वह नष्ट होता है।' मकरन्द के कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार जब अचेतन वर्ग भी उचित स्थान पर अपनी मित्रता का परिचय देता है, तब हम सचेतन प्राणी तुम-जैसे अपने मित्र को नष्ट होते या कुपथ में जाते देखकर अपनी मित्रता का परिचय क्यों न दें, तुम्हें सत्पथ पर क्यों न लाएँ ?

११—दहति निदाघो नितराम्

यह ग्रीष्म-वर्णन उस समय का है, जब बाण विविध अनुभवों से भरी अपनी यात्रा समाप्त कर सुखपूर्वक घर में रह रहे थे। यहाँ बाण ने कठोर निदाघ-काल का बहुत ही ज्वलन्त चित्र खींचा है। संस्कृत-साहित्य में इसकी जोड़ का दूसरा ग्रीष्म-वर्णन नहीं मिलता। इसमें बाण की सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण और वर्णन की अद्भुत शक्ति का परिचय मिलता है। बाण की सार-गर्भ शैली का यह एक उत्कृष्ट नमूना है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस प्रसंग में कई उल्लेखनीय बातें हैं।

[पृ० ५३] कदाचित् ... महाकाल —इस वाक्य में उग्र ग्रीष्म-ऋतु का भैरव शिव से रूपक बाँधा गया है। कुसुमसमययुगम्—कुसुमसमय (वसन्त) एव युग मासद्वयम्। उपसंहरन् (उप+सम्+हृ+शतृ)—(वसन्त ऋतु का) अन्त करता हुआ। शिव भी प्रलय के समय-युग को समाप्त कर देते हैं। अजृम्भत (जृम्भ् लङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन)—बढ़ने लगा (ग्रीष्म के साथ), जमुहाई ली (शिव के साथ)। ग्रीष्माभिधान —ग्रीष्म अभिधान नाम यस्य। सम्फुल्ल ... हास —(१) सम्फुल्लाभिः उत्फुल्लाभिः मल्लिकाभिः धवला अट्टा विक्रयस्थानानि एव हासः यस्य, अर्थात् जो फूली चमेलियों से श्वेत हुई मंडियों के रूप में हँस रहा था (ग्रीष्म के साथ), (२) सम्फुल्लमल्लिकावत् धवलं अट्टहासं उद्धतं हसितं यस्य, अर्थात् जिनकी उद्धत हँसी फूली चमेलियों-जैसी शुभ्र है (शिव के साथ)। भगवान् शिव का ज़ोर से हँसना 'अट्टहास' कहलाता है। चमेली गरमियों में फूलती है। महाकाल —ग्रीष्म ऋतु अथवा शिव। पूरे वाक्य का अर्थ यों होगा—'तब वसन्त ऋतु का अन्त करता हुआ और फूली हुई चमेलियों से श्वेत बनी मंडियों के रूप में हँसता हुआ ग्रीष्म नामक भीषण समय बढ़ने लगा, जान पड़ता था मानो भगवान् शिव ही, युगों का अन्त करते हुए चमेलियों-जैसा शुभ्र अट्टहास करते हुए, जमुहाई ले रहे हों।' प्रत्यग्र ... अभूत्—अब कवि ने

रूपक बदल दिया है। ग्रीष्म एक विजेता है, जो वसन्त-रूपी सामन्त को हरा देता है, पर हारे हुए शत्रु के बच्चों के प्रति, शुरू-शुरू में, कोमल बना रहता है। बच्चों के रूप में नये उद्यानों की कल्पना की गई है। प्रत्यग्र-निर्जितस्य—हाल ही में जीते गए। अस्तमुपगतवतः—अस्त हुए। वसन्तः एव सामन्तः तस्य। बालापत्येषु:—नन्हें बच्चों के प्रति। पयः-पायिषु—(१) दूध पीनेवाले (बालापत्येषु के साथ); (२) पानी पीने वाले अर्थात् प्यासे (नवोद्यानेषु के साथ)। दर्शितः स्नेहः आर्द्रता प्रीतिर्वा येन। नवोद्यानेषु—नये बगीचों पर; बालापत्येषु के विशेषण-रूप में इसका अर्थ होगा 'जिन्होंने अभी-अभी चलना सीखा है', नवं उद्यानं उद्गमनं येषां तेषु। मृदुः अभूत्—ग्रीष्म ने आते ही बगीचों को झुलसा नहीं दिया; आरम्भ में वह अकठोर था। पूरे वाक्य का शब्दार्थ इस प्रकार हुआ—'तत्काल जीते गए और समाप्त हुए वसन्त के नये प्यासे बाग-बगीचों के प्रति स्नेह (आर्द्रता) दिखाते हुए (ग्रीष्म प्रारम्भ में) कोमल ही बना रहा, वैसे ही जैसे (कोई विजेता) हाल ही में विजित और अस्तगत (निस्तेज) सामन्त के दुधमुँहे नन्हे बच्चों पर, जो अभी-अभी चलने लगे हैं, स्नेह (प्रीति) दिखाता हुआ दयालु बना रहता है।' अभि समयः—इस वाक्य में ग्रीष्म और नवाभिषिक्त राजा का रूपक है। अभिनवोदितः—(१) नवोदित, नवागत (उष्णसमय के साथ ; (२) नूतन राज्याभिषिक्त (राजा के साथ)। सकल अकरोत्—सभी फूलों के बन्धन खोल दिए; अर्थात् गरमी आने पर सारे फूल मुरझा गए और अपने वृन्त से टूटकर गिर पड़े। नया राजा भी अपने राज्याभिषेक के समय बन्दियों को छोड़ देता है। विशिष्ट अवसरों पर बन्दियों को रिहा करने की प्रथा है—युवराजाभिषेके वा परचक्रावरोपणे। पुत्रजन्मनि वा मोक्षो बन्धनस्य विधीयते॥ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अवसर पर भारत में भी बहुत-से बन्दियों को रिहा किया गया था। प्रतपन्—(१) गरम होते हुए (उष्णसमय के साथ); (२) प्रताप दिखाते हुए (राजा के साथ)। स्वयम् आदर सूचक है। ऋतुः एव राजा तस्य।

अभिषेकार्द्रा—यह विशेषण 'चामर-कलापा' (चँवर) और 'कामिनिचिकुरचया' (रमणियों के केश-कलाप) दोनों का है। रमणियों के केश-कलाप स्नान (अभिषेक) के बाद गीले रहते हैं और उधर चँवर भी ग्रीष्माभिषेक के बाद गीले हो जाते हैं। स्वयं पुष्पेषु—अर्थात् कामदेव ने रमणियों के स्नान से गीले केशों को हाथ में ले लिया, मानो उसने स्वयं ऋतुराज के अभिषेक से गीले चँवर उठा लिये हों। दूसरे शब्दों में, रमणियों के गीले केश ही ग्रीष्मराज के गीले चँवर थे, जिन्हें कामदेव ने उठा लिया था। स्नान से गीले हुए बाल सुन्दर लगते हैं और कामोद्दीपक होते हैं। ग्रीष्म के कठोर समय में कामदेव इन बालों को अपना लेता है। बाण का यह वर्णन कालिदास के इस पद्य का स्मरण दिलाता है—'स्नानाद्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु। कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे रमणीजनानाम्॥' (रघुवंश १६।५०) राजशेखर ने भी लिखा है—'तदा ते स्नानाना दरदलितमल्ली-मुकुलिनाम्।' हिमालय यात्री—सूर्य ने हिमालय के विरुद्ध युद्ध-यात्रा आरम्भ कर दी (अर्थात् सूर्य उत्तर की ओर चले गए, उत्तरायण हो गए, ग्रीष्म ऋतु में सूर्य उत्तरायण हो जाते हैं)। इसका कारण था हिमदग्ध०—बर्फ से सभी कमल नष्ट हो गये थे, इसलिए सूर्य को मानो ताव आ गया था। कमल सूर्य निकलने पर विकसित होता है, अतः सूर्य और कमल में स्वाभाविक अनुराग होता है। जब सूर्य को यह मालूम हुआ कि हिमालय में (गरमी से) बर्फ पिघलने पर कमल झुलस गए हैं, तब उन्होंने क्रुद्ध हो हिमालय के विरुद्ध अभियान कर दिया। ग्रीष्म में सूर्य के उत्तरायण हो जाने का यह आलंकारिक वर्णन है। अनून् भक्तिं धारयति इति अंशुमाली। डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल ने इससे यह सांस्कृतिक तथ्य निकाला है कि "किसी संकट से बचने के लिए लोग देवी-देवता का कोप-निवारण करने की इच्छा से लाल फूलों की माला पहनकर 'जात' देने जाते थे। जात के लिए प्राचीन शब्द 'यात्रा' था। 'जात देना' मुहावरा संस्कृत में प्रयुक्त

हुआ है (यात्रामदात्)। सम्भवतः बाण उस समय की लोक-भाषा से इसका संस्कृत में अनुवाद कर रहे थे।"

ललाटं तपति इति ललाटतपः। अथ ''तपते=जिस समय माथे को तपानेवाले सूर्य तप रहे थे; अर्थात् जब सूर्य प्रखर हो गए। ललाट के बाद अनुनासिक (न्) पाणिनि के इस सूत्र के अनुसार लगाया गया है— 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६।३।६७)। तपने=सूर्य। **ललमाललाटेन्दुभिः दिनकराराधननियमाः इव अगृह्यन्त**—रमणियों के सुन्दर ललाट-मानो सूर्य की आराधना करने के नियमों का पालन करने लगे। 'ललाटेन्दुभिः' के तीन विशेषण हैं, जो व्रत का पालन करनेवाले पर भी घटित होते हैं— (१) चन्दनेन लिखिताः ललाटिका एव पुण्ड्रकः यैः, जिन पर चन्दन से ललाटिका और पुण्ड्रक बने थे। 'ललाटिका' और 'पुण्ड्रक' ललाट पर चन्दन से अंकित किए जाने वाले अलंकार-रूप चिह्न (तिलक) होते थे। व्रतधारी भी ललाट पर पुण्ड्रक (सम्प्रदाय-विशेष का तिलक) लगाता है। (२) अलकाः एव चीरचीवरं तेन संवीतैः, केशों की लटों के रूप में जो चीर-चीवरों (संन्यासी के वस्त्रों) से ढके थे। (३) **स्वेदो०**— जो पसीने की बूंदों के रूप में मोतियों की रुद्राक्ष-माला धारण किये हुए थे। व्रतधारी भी अक्षमाला पहनता है। **चन्दन सुन्दरीभिः**—इसमें सुन्दरियों और कुमुदिनियों में साम्य स्थापित किया गया है। **दिवसम-सुप्यत सुन्दरीभिः**—सुन्दरियाँ (कुमुदिनियों की तरह) दिन में सोने लगीं। दिवसम् का प्रयोग द्वितीया में 'द्रव्यकर्मणि तादिविधानात् कर्मणि द्वितीयैव' इस नियम के अनुसार हुआ है। **चन्दनधूसराभिः**— (१) चन्दनेन धूसराभिः (सुन्दरीभिः); (२) चन्दनवत् धूसराभिः (कुमुदिनीभिः)। धवल होने के कारण कुमुदिनी को चन्दनधूसर कहा गया है। **असूर्यम्पश्याभिः**—(१) जो (गरमी के कारण) सूर्य के दर्शन नहीं करती थीं (सुन्दरीभि. के साथ); (२) जो (स्वभाव के कारण) सूर्य को नहीं देखती थीं, दिन में नहीं खिलती थीं (कुमुदिनीभिः के साथ)। **निद्रालसा ''तपम्**—उनकी (सुन्दरियों की) नींद से भारी आँखें रत्नों

की जगमगाहट को भी नहीं सह सकती थी, कठोर धूप की बात तो दूर रही। अशिशिरक्षपा — चक्रवाक-जोड़ों ने ग्रीष्म-ऋतु में क्षीण पड़ जानेवाली चाँदनी रातों का उन नदियों की भाँति अभिनन्दन (स्वागत) किया, जो गरमियों में पतली पड़ जाती हैं और जो रेता से युक्त होती हैं। चक्रवाकों के जोड़े रात के समय बिछुड़ जाते हैं, अतः गरमी की छोटी रातें उनके लिए हर्ष का विषय थीं। चक्रवाक नदियों के किनारे रहते हैं, अतः ये भी उनके हर्ष का कारण होती हैं। सोडुपा — (१) उडुपेन चन्द्रेण सह (क्षपा), (२) उडुपेन प्लवेन सह (नद्य)। अभिनव पटु तीव्र पाटलानाम् आमोद तेन सुरभि परिमल यस्य (जवम् और पवनम् का विशेषण)। सूर्य के ताप के कारण लोगों को खिले पाटल-पुष्पों की तीव्र सुगन्ध से सुगन्धित जल ही नहीं, हवा भी पीने की इच्छा हो गई। पाटल ग्रीष्म का एक सुगन्धयुक्त फूल है। तुलना कीजिए—'सुलभसलिलावगाहा पाटलसंसर्गसुरभिवनवाता' (शाकुन्तल)।

[पृ० ५४] वाक्य इस प्रकार है—क्रमेण च निदाघकाले प्रावर्तन्त मातरिश्वा। खरखरमयूखे—खरा: प्रखरा खगस्य सूर्यस्य मयूखा किरणानि यस्मिन्, जिसमें सूर्य की किरणें प्रखर होने लगीं। 'खगार्कविहगा खगा' इत्यमर। यह और बाद के पद 'निदाघकाले' के विशेषण हैं। खण्डितशैशवे—खण्डित शैशव यस्य, जिसका (ग्रीष्म का) शैशव बीत चला। सीदत्स्रोतसि—सीदन्ति स्रोतांसि यस्मिन्, धाराएँ पतली पड़ने लगीं। कातर विरुते—जब दीन कबूतरों के अनवरत कूजन से संसार बहरा हो रहा था। पर्णवाले पक्षी होने के कारण कबूतर गरमी नहीं सह सकते। द्वयम क्षिणि—दूसरे पक्षिगण निःश्वास छोड़ रहे थे। करीषङ्कषमरुति—करीष गोमय कषति क्षिणाति मरुत् वायु यस्मिन्, जब हवा सूखे गोबर को उड़ा रही थी। 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कष' पाणिनि ३।२।४२। 'सर्वङ्कष खल', कूलङ्कषा नदी, करीषङ्कषा वात्या' सिद्धान्त-कौमुदी। विरलवीरुधि—विरला वीरुध लता यस्मिन्, (गरमी के कारण पत्तों के गिर जाने से) लताएँ विरल हो गईं, घनी नहीं रहीं।

रुधिर ''रक्तके—धातकी (लता) के पूर्ण विकसित लाल-लाल पुष्प-गुच्छों को शेर के बच्चे रुधिर के लोभ से चाटने लगे। धातकी के फूल बहुत लाल होते हैं। लोहिता ''सीम्नि—अलोहिता लोहिताः भवन्तः लोहितायमानाः तैः मन्दारैः सिन्दूरिताः आहितसिन्दूराः इव सीमानः यस्मिन्, लाल होते हुए मन्दार वृक्षों से सीमाएँ सिन्दूर-लिपी दीखती थीं। इस काल में यह प्रथा जान पड़ती है कि गाँवों की सीमा पर मन्दार के वृक्ष लगाए जाते थे, अथवा सीमाओं पर लोग लाल रंग के चिह्न बनाकर हदबन्दी प्रकट करते थे (सिन्दूरितसीमा)। आज भी हदबन्दी के पत्थर सिन्दूर से पोत दिए जाते हैं। घर्म'''गर्मुति—घर्मेण मर्मरिताः शुष्कत्वेन शब्दायमानाः गर्मुतः लताः यस्मिन्, गरमी से सूखी लताएँ मर्मर शब्द कर रही थीं। तप्त ' विकिरे—तपी धूल से (उत्पन्न) भूसी की आग (कुकूल) से मुर्गे आदि पक्षी कातर हो रहे थे। विवर ' विधे—विवरं शरणं येषां ते विवरशरणाः श्वाविधाः यस्मिन्, साही-जैसे हिंसक जन्तु बिलों की शरण ले रहे थे। रजनीराजयक्ष्मणि—रातें क्षय-रोग से ग्रस्त हो गई थीं। गरमी में रातें, क्षय-ग्रस्त रोगी की तरह, धीरे-धीरे समाप्त होती हैं। कठोरी ' काले—जब ऐसी ग्रीष्म-ऋतु प्रौढ़ हो चुकी थी, पूरी तरह से आ चुकी थी। प्रावर्तन्त—बहने लगीं। मातरिश्वानः—हवाएँ।

वाक्य-सम्बन्ध इस प्रकार है—सर्वतः प्रत्यदृश्यन्त दारुणाः दावाग्नयः, दारुण दावाग्नियाँ चारों ओर दिखाई देने लगीं। शेष सारे पद 'दावाग्नयः' के विशेषण हैं। क्वचित् ' हरिणाः—कहीं स्वच्छन्द रूप से घास चरनेवाले हरिणों की तरह वे दावाग्नियाँ पीले रंग (हरिणाः) की थीं और घास खा (जला) रही थीं। यह और बाद के 'स्थितयः' तक के पद दो अर्थवाले हैं—वे 'दावाग्नयः' तथा एक और वस्तु से सम्बद्ध हैं। इस दूसरी वस्तु की, संज्ञा और विशेषण, दोनों रूपों में व्याख्या की जा सकती है। क्वचित्'''बभ्रवः—कहीं पेड़ों की जड़ों में बने बिलों में लोटने-वाले नेवलों (बभ्रवः) की तरह (वे दावाग्नियाँ) लाल-पीली (बभ्रवः)

थी और पेड़ों की जड़ों के बिलों में घुस रही थी। क्वचित् कपिला — कहीं जटाधारी कपिल मुनि की तरह वे भूरे रंग की थी और कन्द-मूलों (जटा) का आश्रय ले रही थीं। कपिल सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक थे। बहुवचन का प्रयोग आदरसूचक है। 'कपिला' का अर्थ 'कपिल मुनि के अनुयायी' भी हो सकता है। क्वचित् श्येना — कहीं वे (दावाग्नियाँ) श्वेत वर्ण की थी (श्येना) और चिड़ियों के घोसलों (कुलाय) को गिरा रही थी, इस प्रकार व उन बाज पक्षियों की तरह थीं, जो छोटे पक्षियों के घोसलों को गिरा देते हैं। क्वचित् दवथ — कहीं वे धुआँ उगल रही थी और उनका प्रकाश मन्द पड़ गया था (मन्ददवथ), उन मन्दाग्निवाले (मन्ददवथ) लोगों की तरह जो मुँह से धुआँ (डकार) छोड़ते रहते हैं। धूमस्य उद्गार तेन सह सधूमो॰ (दावाग्नय के साथ), सधूम उद्गार येषाम् (मन्ददवथ के साथ)। डा॰ वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यहाँ धूम्रपान को मन्दाग्नि का कारण बताया गया है। क्वचित् स-भस्मका — कहीं वे भस्मयुक्त थी और सारे संसार का कौर बनाकर भक्षण करना चाहती थी, भस्मक रोग से पीड़ित उन व्यक्तियों की तरह जो समस्त संसार में होनेवाला अन्न चट करने को तैयार रहते हैं। घस्मर = भक्षक। भस्मक व्याधि में भूख बहुत लगती है। क्वचित् वृद्धा — कहीं वे बाँसों के सिरों पर लगी (जलती) दिखाई देती थी और आकार में बहुत बढ़ गई थी, उन अत्यन्त वृद्ध पुरुषों की तरह जो लाठियों पर अपना शरीर थमाए रहते हैं। क्वचित् क्षयिण — कहीं वे पर्वतों पर शिलाजीत खाकर विनाश फैला रही थी, उन क्षय-रोगियों की तरह जो निरन्तर शिलाजीत खाते रहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी में शिलाजीत की जानकारी हो चुकी थी। शिलाजीत क्षय-रोग में उपादेय माना जाता है। टीकाकार शंकर का कथन है कि शिला-धातु के प्रयोग से, शिव की कृपा से अथवा बकरी के मूत्र से क्षय-रोग क्षीण होता है, अन्य किसी प्रकार नहीं—'शिलाधातुप्रयोगाद्वा प्रसादाद्वाथ शांकरात्। अजामूत्रप्रयोगाद्वा क्षय क्षीयेत नान्यथा॥' क्वचित् पीवान — कहीं चल आदि (द्रव्य-वस्तुओं) को सुखाकर वे मोटी हो गई थी, उन स्थूल

लोगों की तरह जो पट्रस भोजन करते है। क्वचित् ' रौद्रः—कहीं वे गूगुल जलाकर रौद्र (भीषण) हो गई थी, उन रौद्रों (रुद्रपूजकों) की तरह जो (माथे के उपर) गूगुल (की वत्ती) जलाकर अपना मांस और हड्डी तक जला डालते हैं। क्वचित् ' स्थितयः—ज्वलितानि नेत्राणि मूलानि तेषां दहनेन दग्धाः सकुसुमा शराः मदनाश्च येषु; कृता स्थाणुषु स्थितिः यैः, कहीं वे दावाग्नियाँ जलती जडों की आग से फूलों-सहित शाखाओं तथा मदन नामक वृक्षों को जलाकर ठूँठे झाड़ो पर ठहरी हुई थीं और इस प्रकार उन शिव का-सा व्यवहार कर रही थीं, जिन्होंने जलती आँख की आग से पुष्पधनुष-सहित कामदेव को जला दिया था (ज्वलितेन नेत्रदहनेन दग्धः सकुसुमशरः मदनः यैः ; कृता स्थाणोः शिवस्य स्थितिः व्यवहारः यैः)। चटुल ' नटाः—चपल लपटोंवाली दावाग्नियाँ आरभटी शैली से नाचते हुए उन नर्तकों की तरह लगती थी, जो खुले वालों को इधर-उधर फटकारते हुए नृत्य का आरम्भ करते हैं। इस प्रकार बाल खोलकर सिर को और शरीर को प्रचंड अंग-संचालन द्वारा हिलाने की नृत्य-पद्धति बलूची और कबायली लोगों की अभी तक विशेषता है। स्वम् '' भक्षयन्तः—अपने धुएँ को भी बादल बन जाने के डर से वे खा जाती थी। दावाग्नियों को भय था कि उनका धुआँ कहीं बादल न बन जाए और बादल कहीं वर्षा से उन्हें शान्त न कर दे। स्वेदिनः ' काननेषु —वनों में पिघलते मधुकोश से चू रहे मोम को बरसाने से वे मानो पसीने से तर हो गई थीं (विलीयमानः मधुपटलगोलः माक्षिककरण्ड. तस्मात् गलितं मधूच्छिष्टं तस्य वृष्टिः येषां तैः वृष्ट्यः)। खल ' रेखु—नितान्त ऊसर स्थानों में लपटों का घनापन (संहति) कम हो जाने कारण वे (दावाग्नियाँ) उस गंजे आदमी की तरह जान पड़ती थी, जिसके सिर पर बहुत कम बाल होते हैं। गृहीत ' च्चयेषु—शिला-समूहों में सूर्यकान्त-मणियों से दीप्त होने के कारण वे शिलाओं का ही कौर बनाती हुई प्रतीत होती थीं। सूर्य के प्रकाश में सूर्यकान्त-मणि आग उगलती है। ग्रीष्म में इन मणियों की ज्वाला के साथ दावाग्नियों के मिल जाने से ऐसा जान पड़ता था कि वे दावाग्नियाँ शिलाओं को ही ग्रास बना रही हैं।

१२—किं स्वर्णम्? चारित्र्यम्; को निकषो? विपदेका

प्रस्तुत अवतरण में राजकुमार हर्ष के (जिन्होंने बाद में सन् ६०६-६४७ ई० तक सम्राट् हर्षवर्धन के नाम से) उत्तरी भारत का शासन किया, माता-पिता की मृत्यु का वर्णन है। मरणोन्मुख माता यशोवती तथा पिता प्रभाकरवर्धन द्वारा हर्ष को दिया गया उपदेश मार्मिकता की दृष्टि से 'हर्षचरित' के सबसे सुन्दर स्थलों में से है। इस प्रकरण में बाण ने कई प्रकार की वर्णन-शैलियों का प्रयोग किया है।

इस गद्यांश के शीर्षक का अर्थ है—चारित्र्य (सदाचार) ही सच्चा सोना है और विपत्ति ही उसकी सही कसौटी (निकष)।

[पृष्ठ ५४] आरम्भ में आर्या छन्द में श्लेष का प्रयोग है—एक परिवर्तमान अनन्त पर्यन्तरहित काल, शेषात् परिवर्तमान अनन्त इव, महापुरुषान् पातयति, अर्थात् काल जब करवट लेता है, अनेक महापुरुषों को भी एक साथ, अनादरपूर्वक (बिना किसी सोच-विचार के), विनष्ट डालता है, जैसे शेषनाग अपने फना को हिलाकर अनायास ही पहाड़ों को गिरा देता है। यह पद्य हर्ष पर माता-पिता की मृत्यु के रूप में आ पड़ने वाली विपत्तियों का सूचक है। मान्यता है कि शेषनाग के हजार फनों पर पृथ्वी टिकी हुई है और जब वह सुस्ताने के लिए फनों को हिलाता है तब भूकम्प आते हैं। वाल्मीकि रामायण के अनुसार पृथ्वी एक बड़े दिग्गज के मस्तक पर टिकी है और जब वह थकावट के मारे मस्तक हिलाता है तब पृथ्वी डोलने लगती है—'यदा पर्वणि काकुत्स्थ विश्रमार्थं महागजः। खेदाच्चालयते शीर्षं भूमिकम्पस्तदा भवेत्॥' (१।४०।१४।)

अन्यस्मिन् अहनि—दूसरे दिन। इससे एक दिन पहले ही हर्ष अपने पिता की रुग्णता का समाचार पाकर, प्रवास से घर लौटे थे। उनके पिता मरण-शय्या पर थे और इससे उनका चित्त नितान्त उद्विग्न हो उठा था। द्रुतपतत्... रिणी—द्रुतगतिवशेन त्वरितगतिवशात् विशीर्यमाणं च्युट्यमानं बलङ्कारं भूषणं झाङ्कारिणी शब्दायमाना, तेजी से चलने के कारण टूट

पड़नेवाले आभूषणों से जो आवाज कर रही थी। क्व ··· पृच्छन्ती—'कुमार (हर्ष) कहाँ है, कुमार कहाँ हैं,' इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति से पूछती हुई। प्रतीहारी—द्वारपालयुवती। विषण्ण ··· गता—लोगों ने विषाद-भरी आँखों से उसका स्वागत किया। कुट्टिम ··· युगला—कुट्टिमे निबद्धाया भूमौ न्यस्तं हस्तयुगलं यया, जिसने अपने हाथ फर्श पर टिका दिए थे। गलन्तीभिः · दशनदीधितिधाराभिः शुष्यन्तम् अधरं सिञ्चन्तीव—दाँतों से निकलती हुई किरणों (दीधिति) से अपने सूखते हुए और कुछ-कुछ धूसर अधरों को मानो सींचती हुई। प्रतीहारी का होठ दुःख के कारण सूख गया था; जब उसने नीचा मुँह करके निवेदन करना आरम्भ किया, तब उसके चमकते दाँतों की आभा होंठ पर पड़ने लगी। यह आभा जल की धारा-जैसी प्रतीत होती थी। किमपि · देव्या—रानी ने कुछ विचित्र निश्चय (पति के जीवित रहते अनुमरण का, सती होने का सकल्प) कर डाला है। अध्यवसितम्=निश्चितम्।

· अपरम्—यह दूसरा अशुभ वृत्तान्त। अभी तक तो हर्ष अपने पिता की बीमारी से व्यग्र थे कि उन्हें माता के लिए भी चिन्तित होना पड़ा। च्युतः इव सत्त्वेन—वह मानो धीरज खो बैठे। द्रुतः इव दुःखेन—दुःख से मानो गल गए, विलीन हो गए। आक्रान्तः इव चिन्तया—चिन्ता से मानो ग्रस्त हो गए। आचान्तः=पीतः=ग्रस्तः। तुलितः इव तापेन—ताप से जैसे तोल लिये गए। अङ्कीकृतः इव आतङ्केन—आतङ्क ने, भय ने जैसे उन्हें अपनी गोद में भर लिया, अर्थात् वह अत्यन्त भयभीत हो गए। अप्रतिपत्तिः आसीत्—ऐसी थी उनकी सज्ञा-विहीनता, किंकर्तव्यमूढता। प्रतिपन्नसंज्ञस्य—प्रतिपन्ना प्राप्ता संज्ञा चेतना येन तस्य, होश में आने पर (उन्होंने मन में सोचा)। कठिने—यह 'हृदये' और 'अशिवनि' दोनों का विशेषण है। दुःखाभिषङ्गः—दुःखस्य अभिषङ्गः अभिभवः, दुःखों का आक्रमण। निरनुक्रोशस्य—निर्गतः अनुक्रोशः अनुकम्पा यस्मात् तस्य निर्दयस्य। पूरे वाक्य का अर्थ यह हुआ—जैसे कठोर पत्थर पर लोहे की चोट आग पैदा करती है (हुतभुजम् उत्पादयति), वैसे ही मेरे कठोर हृदय

पर अनेक प्रकार से होनेवाला यह दुःखों का आक्रमण शोक तो पैदा करता है, पर मुझ निर्दय की काया को भस्म नहीं करता।

प्रविशन्नेव निर्यान्तीम्—भीतर जाते ही उन्होंने माता को बाहर निकलते देखा (निर्यान्ती निर्गच्छन्तीम्)। यह तथा बाद के समस्त द्वितीयान्त एकवचन पद 'मातरम्' के विशेषण हैं। **दत्त सर्वस्वापतेयाम्**—दत्त सर्वं स्वापतेयं धनं यया, जिसने अपनी समस्त सम्पत्ति का दान कर दिया था। स्वापतेयम्—(स्वपति+ढञ्)—स्वपतौ साधु स्वापतेयम्, यह शब्द पाणिनि के इस नियम के अनुसार बना है—**पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्**, अर्थात् 'पथिन्', 'अतिथि', 'वसति' और 'स्वपति' में 'साधु' के अर्थ में ढञ् प्रत्यय जुड़ता है। **गृहीतमरणप्रसाधना**—गृहीत मरणप्रसाधन सतीत्वाय सौभाग्यचिह्नानि यया, जिसने मरण-काल के (सती बनने के) सभी अलंकार धारण कर रखे थे। **जानकी इव प्रदेक्ष्यन्तीम्**—जैसे सीता ने पति के सामने (पुरः) अग्नि में प्रवेश किया था, वैसे ही वह भी पति से पहले (पुरः) अग्नि-प्रवेश करनेवाली थी। **प्रत्यग्र स्नपिताम्**—अभी-अभी स्नान करने के कारण उसका शरीर गीला था, मानो भगवती लक्ष्मी उसी क्षण समुद्र में से निकली हो। लक्ष्मी समुद्र में से निकलने समय यशोवती की तरह भीगी रही होगी। प्रत्यग्र सद्य सम्पादित स्नान तेन आर्द्रं निलीन देह यस्याः सा, ता देहाम्, तस्या भाव देहता, तया। **कुसुम्भ दधानाम्**—वह कुसुम्भ फूल के समान दो लाल वस्त्र पहने थी, मानो आकाश ने दोनों सन्ध्याएँ धारण कर रखी हों। **धात्र्या प्रसाधिताम्**—अपनी धाय द्वारा यह अलंकृत की गई थी, साथ ही वह अपनी पति-भक्ति से भी विभूषित थी। धात्री (धात्रेयी या धानी-भुता) का काम रानी का प्रसाधन करना था। इसमें तथा बाद के वाक्यांशों में 'प्रसाधिताम्'-जैसे शब्दों के दो अर्थ हैं, एक शाब्दिक, दूसरा रूपकात्मक। **मूर्च्छया धार्यमाणाम्**—एक दुःखिया और मूर्च्छा, इन दो परिचितों (सखियों) ने उसे सहारा दे रखा था। [पृ० ५६] **व्यसनसङ्गतया**—जो उसके दुःख की सगिनी थी (सखी के साथ); जो उसकी विपत्ति से सम्बद्ध थी (पीड़ा के साथ),

सखी और पीड़ा, विपत्ति के इन दोनों साथियों ने उसका आलिंगन कर रखा था। परिजनेन ··· परीताम्—सेवकों से, जिन्होंने उसके सारे अंगों को पकड़ लिया था, वह घिरी थी; साथ ही, वह सन्ताप से भी, जो उसके समस्त अवयवों में प्रविष्ट था, व्याप्त थी। कुल··· अधिष्ठिताम्—बड़े-बड़े कुल-पुत्र तथा लम्बी-लम्बी साँसें उसके साथ थी। कञ्चुकिभिः ··· गताम्—बूढ़े कंचुकी उसके पीछे आ रहे थे; उसका दुःख बहुत बढ़ गया था और उसके पीछे लगा था।

बाष्पायमाणा (वाष्पम् उद्वमन्ती)—वाष्प, नामधातु, शानच्। सस्नेहम् ··· चूडः—जिसके सिर के ऊपर के बाल नूपुरों के रत्नों की किरणों द्वारा स्नेहवश चुम्बित हो रहे थे। जब हर्ष माता के चरणों पर गिर पड़े, तब माता के रत्नजटित नूपुरों की आभा उनके बालों पर पड़ने लगी। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि ऐसा उन्होंने स्नेह से प्रेरित हो कर किया। गिरिणे ··· माना—जिसके शोक का आवेग मानो एक बड़े पहाड़ ने रोक दिया था। मार्ग में रुकावट आ जाने से धारा और भी वेग से प्रवाहित होने लगती है; रानी का शोकावेग भी, जिसको उसने जबरदस्ती रोक रखा था, फूट पड़ना चाहता था। अवष्टभ्यमाना (स्तम्भिता)—अव+स्तभ्+यक्+शानच्। बाष्पोत्पतनम्—अश्रुप्रवाहम्। रानी आँसुओं का गिरना न रोक सकी। कृतान्तं गर्हमाणा—काल को कोसती हुई। प्राकृतप्रमदा इव—सामान्य स्त्री की तरह।

प्रशान्ते च मन्युवेगे—जब दुःख का आवेग शान्त हो गया। सुत ··· युगला—सुतस्य वदने विनिहितं निभृत (शान्त) नयनयुगलं यया सा। नासि ··· वा—ऐसा नहीं है कि तुम अप्रिय, गुणरहित या त्याग कर देने के योग्य हो। स्तन्यम्—स्तने भवं स्तन्यं दुग्धम्, स्तनों का दूध। प्रभूत-प्रभुप्रसादान्तरिता—प्रभूताः प्रभोः प्रभाकरवर्धनस्य प्रसादाः तैः अन्तरिता, अर्थात् मेरी दृष्टि इस समय स्वामी के अनुग्रहों से आच्छादित है, मुझे इस समय अपनी पति-भक्ति ही दीख रही है, पुत्र-स्नेह नहीं। कुलकलत्रम् अस्मि—मैं एक उच्च परिवार की वधू हूँ। धर्मधवले—धर्मेण धवले,

अपनी धर्मपरायणता के कारण उज्ज्वल। वीरजा—वीर की पुत्री। बाण ने उस राजवंश के बारे में कुछ नहीं बताया है, जिसमें यशोवती का जन्म हुआ था। पराक्रमक्रीता—पराक्रम से खरीदी गई, अर्थात् जो केवल पराक्रम की परवाह करती है, या पराक्रम पर ही जो अनुरक्त है। भरत—बाण का संकेत सम्भवतः दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत की ओर है। एक और भी भरत हुए थे, जो ऋषभ के पुत्र और नाभि के पौत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। भगीरथ—गंगा को पृथ्वी पर लानेवाले। नाभाग—रामायण के अनुसार यह नहुष के पुत्र और अम्बरीष के पौत्र थे (२।११०।३३)। वृन्दारक=श्रेष्ठ। आसेवित शिरसा—सेवा में होड़ करनेवाली अनन्त सामन्तों की स्त्रियों ने सोने के घड़ों को उँडेलकर इस सिर पर अभिषेक किया, अनन्तसामन्त-सीमन्तिन्य, ताभिः समावर्जित जाम्बूनदघटैः अभिषेक। महादेवी ललाटेन—इस ललाट को महारानी के पट्टबन्ध का मनोरथ-दुर्लभ सत्कार प्राप्त हुआ। अर्थात्, यशोवती के सिर पर पहले सुवर्ण-घटों से अभिषेक किया गया था और तब ललाट पर महादेवी-पद का सूचक पट्टबन्ध बाँधा गया था। वराहमिहिर के अनुसार महादेवी-पट्ट साढ़े दस इंच लम्बा, बीच में सवा पाँच इंच चौड़ा और किनारों पर इसकी आधी चौड़ाई का होता था। अमित्र घरौ—अमित्राणां कलत्राणि एव वन्दीवृन्दं तेन विधूयमान चामर तस्य मरुता चल चीनांशुक तस्य धरौ (पयोधरौ का विशेषण)— जिन स्तनों पर का चीनी रेशमी वस्त्र शत्रु-पत्नियों द्वारा डुलाए जाते चँवरों की हवा में हिलता रहता था। यशोवती चीनांशुक का उत्तरीय धारण करती थी। सपत्नीता शिरसु लिखित चरणयुगलम्—इसका शब्दार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए, आशय यह है कि उसने अपनी समस्त सौतों पर राज किया था। नमन् अर्चितम्—जिन (पैरों) की पूजा राजधानी-भर की कुटुम्बिनियों ने प्रणाम करते समय अपने मुकुट पर की मणि-मालाओं से की थी। [पृ० ५७] कृतार्थसर्वावयवा—इस प्रकार मेरे सभी अवयव कृतकृत्य हुए। न च कर्तुम्—स्वामी के मरम

हो जाने पर, आर्यपुत्र से रहित होकर मैं रति की भाँति निरर्थक प्रलाप नहीं कर सकती। अतिशीतलः · अनलः—पति-वियोग के इस शोकानल से, जिसका इन्धन अक्षय स्नेह है, यह अनल (अग्नि) अतिशीतल है। दुःख · भवति—दुःख से दग्ध व्यक्तियों की समृद्धि (भूति) अशुभ, अभिशप्त और निरुपयोगी होती है। भूति का अर्थ भस्म भी होता है। यज्ञ की भस्म के अतिरिक्त सब राख अमंगल होती है। 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः। विधवानां · वपुषा—इस लोक में मैं विधवाओं के यश से रहना चाहती हूँ, न कि शरीर से। विधवाओं का यश उनका सती हो जाना है। न पुनः कदर्थनीयास्मि—मेरे (सती होने के) मनोरथ के प्रतिकूल होकर मुझे फिर क्लेश न पहुँचाना। कदर्थनीय=कदर्थ (नामधातु)+अनीय। कुत्सितः अर्थः कदर्थः।

ससम्भ्रमम्—सम्भ्रमेण वेगेन सहितं यथा स्यात्तथा। उभयकर०—उभयकराभ्यां विधृतं वपुः यस्याः, माता का शरीर अपने दोनों हाथों से पकड़कर। दुर्निवारतां · समवधार्य—माता का शोक रोकना अत्यन्त कठिन है, यह सोचकर। कुल · क्रियाम्—कुलांगनाओं के लिए वही क्रिया (सती हो जाना) श्रेयस्कर है, ऐसा मानकर।

अभिजनरति · रूपम्—स्नेह से कातर होने पर भी कुलीन व्यक्ति देश और काल के अनुरूप आचरण करता है। बाण के अनुसार, इसी कारण हर्ष ने अपनी माता का सती होना स्वीकार कर लिया। पौरा · दिग्भिः—नगर-निवासियों के क्रन्दन से भरी दिशाओं ने जैसे उसे रोकना चाहा। सरस्वती—इस नदी के तट पर पंजाब के करनाल जिले का थानेसर (स्थाण्वीश्वर) नगर अवस्थित है। यह नदी आगे रेगिस्तान में जाकर लुप्त हो जाती है। स्त्री · पातैः—स्त्री-स्वभाव के अनुकूल कातर दृष्टिपातों से (अग्नि की पूजा की)। प्रविकसित · पुञ्जैः—जो विकसित लाल कमलों के समूह जान पड़ते थे। मातुरस्तमिव मूर्तिः ऐन्दवी—जैसे चन्द्रमा का आकार (अमावस्या के दिन) सूर्य में प्रवेश करता है।

चित्रभानु का अर्थ सूर्य और अग्नि दोनों है।

इतरोऽपि—इसका संकेत हर्ष की ओर है। स्वल्पा वृत्तिम्--स्वल्प अवशेष यस्या सा ०शेषा प्राणवृत्ति, यस्य तम्, जिनमें थोड़ी ही प्राण-शक्ति बची थी। परिवर्त्यमानतारकम्—(१) जिनकी आँखों की पुतलियाँ घूम रही थीं (जनयितारम् के साथ), (२) जो तारों को घुमाता है (तारकराजम् के साथ)। अस्तम् अभिलषन्तम्—(१) मृत्यु की इच्छावाले, (२) अस्त होने की इच्छावाले। असह्य द्युत—असह्य शोक में आधिक्य से अभिभूत। त्याजित स्नेहेन धैर्यम्—स्नेह ने उनसे मारा धीरज छुड़वा दिया, स्नेह के वश हो वह धैर्य त्याग बैठे। [पृ० ५८] सकल लालिनीं–सारे उद्धत राजाओं की मस्तकरूपी माला में शोभित। विमुक्ताराव —विमुक्त आराव विलापशब्द येन।

उपरुध्यमानदृष्टि —उपरोधवती दृष्टि यस्य, जिनकी दृष्टि झपकी जा रही थी। अवि श्रवण —अविरतर्रुदितशब्देन आध्मिनी श्रवणौ यस्य, जिनके कानों में (हर्ष के) लगातार रोने का शब्द पड़ने से। प्रत्यभिज्ञाय—पहचान लिया। मवद् सत्त्वा —आप-जैसे पुरुष अधीर नहीं होते। अविद्यमान महासत्त्व येषां ते अमहासत्त्वा। महा बोजिता—लोगों का पहला सहारा मनोबल (मनस्विता या धैर्य) है, दूसरा राजकुल (लोक या संसार महाधैर्यशाली के आश्रय से ठहरता है, राजा का आश्रय तो बाद की चीज है)। लोग किसी का सहारा पहले यह देखकर लेते हैं कि वह धैर्यवान् है या नहीं, उसका राजवंश में सम्बन्धित होना गौण वस्तु है। राजबीजिता = राजा बनिता। सर्वातिशयाश्रित - सभी गुणों के आश्रय-स्थान। क्व क्व—दो क्व का प्रयोग महान् अन्तर या विरोध दिखाने के लिए किया जाता है, कहाँ आप मनस्वियों (धीरों) में श्रेष्ठ, सभी गुणों के आश्रय और कहाँ यह घबराहट! कुल करणमिव—'कुल-प्रदीप हो', ऐसा कहना तुम्हें छोटा बनाना है, क्योंकि तुम सूर्य के समान तेजस्वी हो। प्रदीप—(१) दीपक, (२) श्रेष्ठ। पुरुष सिंहेव—'तुम पुरुषों में

सिंह हो', यह कहना तुम्हारी निन्दा है, क्योंकि तुमने तो शूरता और प्रखर प्रज्ञा से अपना पराक्रम बढ़ाया है (जबकि सिंह के पास केवल शारीरिक शक्ति होती है); शौर्येण पटुप्रज्ञया च उपबृंहितः अभिवर्धितः पराक्रमः यस्य। क्षितिः···पुनरुक्तमिव—'यह पृथ्वी तुम्हारी है', यह पुनरुक्ति है, क्योंकि तुम्हारे लक्षण ही तुम्हारा चक्रवर्ती होना बता रहे हैं; लक्षणैः आवेदितं चक्रवर्तिपद यस्य। गृहाण···विपरीतमिव—"लक्ष्मी को ग्रहण करो', यह उलटी बात कहना है, क्योंकि स्वयं लक्ष्मी तुम्हें ग्रहण कर चुकी है। ऐसा ही भाव 'कुमारसम्भव' के पाँचवें सर्ग में आया है—'लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्।' अध्यास्य··· अपुष्कलमिव—'इस लोक को स्वीकार करो,' यह तुम्हारे लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि तुम दोनों लोक (इहलोक और परलोक) जीतने के इच्छुक हो। अपुष्कलम्—अपर्याप्त। अध्यास्यताम्—अधि+आस्, लोट्, प्रथमपुरुष एकवचन, कर्मवाच्य। स्वी··· योगमिव—'कोश स्वीकार करो, यह कहना बेकार है; क्योंकि तुम चन्द्र-किरण-सदृश निर्मल यश का संचय करने में दत्तचित्त हो, 'शशिनः कराणां निकरः समूहः तद्वत् निर्मलं यशः तस्य संचये एकः केवलः अभिनिवेशः. संकल्पः अस्ति यस्य इति ०वेशिनः। आत्मी···मिव—'राजाओं के समूह को अपनाओ', यह कहना निरर्थक (गतार्थम्) है, क्योंकि तुमने अपने गुणों से संसार-भर को अपना बना लिया है। राजकम्=राज्ञां समूहः। उह्यतां नियोगमिव—'राज्य-भार वहन करो', यह अनुचित आदेश है, क्योंकि तुम तीनों लोकों का भार वहन करने के योग्य हो। प्रजा··· अनुवादः इव—'प्रजा का पालन करो,' यह पुनरुक्ति (अनुवाद) ही है, क्योंकि तुम अपनी लम्बी भुजाओं से दिशाओं की रक्षा कर रहे हो; दीर्घाभ्यां दोर्दण्डाभ्यां अर्गलितानि बद्धानि दिङ्मुखानि येन। 'अनुवाद' पूर्वमीमांसा का पारिभाषिक शब्द है; जब किसी वैदिक विधि का पुनःकथन, 'स्पष्टीकरण या उदाहरण दिया जाता है, तब उसे 'अनुवाद' कहते हैं—'विधिविहितस्य वचनमनुवादः।' परिजनः···मिव—परिजनों (अनुचरों) का

पालन करो, यह कहना लोकपाल-जैसे तुम्हारे लिए आनुषङ्गिक ही है। आनुषङ्गिकम्—अनुषङ्गात् आगत ठक्। आनुषङ्गिक उसे कहते है, जो किसी कार्य के बाद स्वत ही घटित होता है, जब हर्ष लोकपाल की तरह थे, समस्त ससार के पालक थे, तब इससे यह स्वत सिद्ध है कि वह अपने स्वजनों-सेवकों की भी रक्षा करेंगे। सातत्येन क्रियते—'निरन्तर शस्त्राभ्यास करो', ऐसा आदेश उसे क्या दिया जाए, जिसकी बाँह धनुष की डोरी के घर्षण से काली पड गई है, धनुर्गुणस्य किणेन तस्य कलङ्कितेन कालीकृत प्रकोष्ठ हस्ताग्र यस्य। निगृहीतानि चापलानि—'चपलता को वश में करो (रोको)', मेरा यह कहना उसके लिए असमय की बात है, जिसने छोटी आयु मे ही इन्द्रिय-निग्रह कर लिया है। निरवशेषा क्रियन्ताम्—'शत्रुओं को समाप्त कर दो,' यह तुम्हारे सहज तेज के लिए (तुम-जैसे स्वभाव से तेजस्वी व्यक्ति के लिए) सोचने की बात है, अर्थात् यह समस्या तो तुम स्वय अपने स्वाभाविक तेज से हल कर दोगे, मुझे इसके लिए तुम्हें प्रेरित करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता है—अपने शत्रुओं को समाप्त कर देने के लिए तुम्हें कहना तुम्हारे तेज पर सन्देह (चिन्ता) करना है। अपुनरुन्मीलनाय—फिर कभी न खोलने के लिए; पुन अप्रबोधनाय। निमिमील (नि+मील्, लिट्)—न्यमीलयत्।

४ पूषापि—सूर्य भी, 'अपि' का भाव यह है कि इधर राजा ने प्राण छोडे तो उधर सूर्य भी निस्तेज हो गए। अस्मिन्नेवान्तरे—इसी बीच। आयुषेव तेजसा—तेज-रूपी आयु से। व्ययुज्यत—वियुक्त हो गये, वि+युज्, लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन, कर्मवाच्य। ततश्च समनमत्—राजा का जीवन अपहरण करने मे उनका जो अपराध हुआ, उससे लजाते हुए उन्होंने अपना मुँह नीचे लटका लिया (अर्थात् वह पश्चिम मे नीचे उतर आए, अस्तप्राय हो गए)। दिन में—सूर्य के अधिकार-समय मे—राजा के मरने से सूर्य भी अपराधी हुए। [पृ० ४९] भूपाल प्रपेदे—राज-मृत्यु की शोकाग्नि से मानो भीतर-ही-भीतर जलते हुए वह लाल हो गए, भूपालस्य अभाव मरण तेन शोक स एव शिखी अग्नि तेन।

जो चीज अग्नि में गरम की जाती है वह भी लाल हो जाती है। सन्दं दिवः—मानो अप्रिय प्रश्न पूछने के लिए लोकाचार का अनुसरण करते हुए वह आकाश से धीरे-धीरे उतरे। 'अप्रिय प्रश्न' कुशल-प्रश्न का उलटा है, मृत्यु-सम्बन्धी प्रश्न। दित्सु... ससर्प—मानो राजा को जलांजलि देने की इच्छा से वह पश्चिम सागर (अपरजलनिधि) के समीप पहुँचे। दित्सुः—दातुम् इच्छु। सद्य आधत्त—जलांजलि देते ही उनके सहस्र 'कर' (हाथ, किरण) मानो शोकाग्नि से जलकर लाल-से हो गए।

१३—अहो प्रभावस्तपसाम्!

गोदावरी-तट पर स्थित महर्षि जाबालि के आश्रम के इस बाण-कृत भव्य वर्णन को पढ़कर मन जैसे शान्ति और संयम के जल से प्रक्षालित हो जाता है। कुछ अंशों में कवि-कल्पना-प्रसूत होने पर भी इस वर्णन में प्राचीन आरण्यक जीवन के वातावरण को पुनः मूर्त रूप देने का सच्चा प्रयत्न पाया जाता है। जिस प्रकार 'हर्षचरित' में बाण ने बौद्ध पण्डित दिवाकर मित्र के आश्रम का भव्य चित्र खींचा है, वैसे ही वैदिक परम्पराओं के पुञ्जीभूत आदर्श के रूप में जाबालि के दिव्य आश्रम की भी कल्पना की गई है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार, जाबालि के उदात्त चित्रण में उन सब उत्तम गुणों एवं चारित्रिक पूर्णताओं का उल्लेख हो गया है, जो गुप्त-युग में बोधिसत्त्व-तुल्य महापुरुषों के आदर्श चरित्र की विशेषताएँ मानी जाती थीं।

इस कथांश का वक्ता वैशम्पायन शुक है, जो शूद्रक की राजसभा में अपनी आपबीती सुनाता है। [पृ० ५९] अनतिदूरम् इव गत्वा—कुछ ही दूर जाकर। दिशि दिशि—हर एक दिशा में। संनिहितकुसुमफलैः

(०स्थलीभि का विशेषण)—सन्निहितानि निकटस्थानि कुसुमानि फलानि च येषा तैं, अर्थात् फल-फूलों से लदी। आरण्यस्थलीभि —वन-भूमियों से। उपशोभितप्रान्तम्—जिसका आसपास का प्रदेश (प्रान्त) सुशोभित था। यह और बाद के समस्त द्वितीय एकवचन के पद 'आश्रमम्' के विशेषण हैं। आगृहीत मृद्भि (मुनिभि का विशेषण)—जिन्होंने (हाथ में) समिधाएँ, दर्भ (कुश), पुष्प और मृत्तिका (मृद्) ले रखी थीं। अध्ययन गतं — अध्ययनेन वेदपारायणेन मुखरा वाचाला ये शिष्या तैं अनुगतै युक्तै, जिनके साथ वेदों का घोष करते हुए शिष्य चल रहे थे। अशून्योपकण्ठम् अशून्य अविरहित परिपूर्ण उपकण्ठ निकटदेश यस्य तम्। भाव यह है कि वहाँ समिधा, दर्भ, पुष्प और मृत्तिका हाथ में लिये वेदपाठी शिष्यों के साथ मुनिगण चारों ओर प्रवेश कर रहे थे। अनवरत कुलम्—अनवरत श्रवणेन निरन्तराकर्णनेन गृहीता शिक्षा प्राप्ता ये वषट्कारा हवि-समर्पणमन्त्रा तै तदभ्यासरतं वाचाल मुखरायमान शुककुल कीरगण यस्मिन् स त तादृशम्, अर्थात् वषट्कार (हवि-मन्त्रो) को निरन्तर सुनते रहने के कारण शुक उन्हें सीख गए थे (गृहीत) और उन्हें रट रहे थे। यज्ञ में वषट्कार का उच्चारण बहुत उच्च स्वर में किया जाता है, जैसा कि इस पाणिनि-सूत्र में कहा गया है—'उच्चैस्तरा वा वषट्कार'। अनेक सुब्रह्मण्यम्—अनेकाभि सारिकाभि पीनवादाभि उद्घुष्यमाणम् उच्चै स्वरेण उच्चार्यमाण सुब्रह्मण्य वेद यत्र तम्, जहाँ सारिकाएँ वेद-मन्त्र का उद्घोष (उच्च स्वर से उच्चारण) कर रही थीं। अरण्य पिण्डम्—अरण्यकुक्कुटै उपभुज्यमान भक्ष्यमाण वैश्वदेवस्य बलिपिण्ड यत्र तम्, जहाँ जंगली मुर्गे-वैश्वदेव-बलि के पिण्ड खा रहे थे। परिचित तापसम्—परिचिताना शाखामृगाणा वानराणा कराकृष्ट्या हस्ताकर्षणेन निष्कास्य-माना बहि क्रियमाणा प्रवेश्यमाना अन्त प्रदेश कार्यमाणा च जरन्त वृद्धा नेत्रविहीना तापमा तपोधना यत्र तम्, जहाँ बूढे और अन्धे तपस्वी परिचित (सिखाये हुए) बन्दरों द्वारा हाथ पकडकर बाहर-भीतर लाये-ले जाए रहे थे। इभ कल्मापितम्—इभकलभाना हस्तिपोतानाम् अर्धो-

पभुक्तानि च तानि पतितानि तैः सरस्वत्याः भुजलताभ्यां विगलितैः स्रस्तैः शंखवलयैः कम्बुकटकैः इव मृणालशकलैः बिसखण्डैः कल्माषितं चित्रितम्, जो उन कमल-नालों के टुकड़ों से चित्रित थी, जिन्हें हाथियों के बच्चों ने आधे-आधे खाकर गिरा दिया था और जो सरस्वती की लता-जैसी भुजाओं से खिसके हुए श्वेत शंख-वलय जैसे लग रहे थे। वलय=कलाई के आभूषण, कड़े। ऋषि···कन्दमूलम्—ऋषिजनार्थं मुनिभ्यः एणकैः हरिणैः विषाणशिखरैः शृङ्गप्रान्तैः उत्खन्य नानानि विविधानि कन्दमूलानि यत्र तम्, जहाँ ऋषि-मुनियों के लिए हिरन अपने सींगों की नोक से नाना प्रकार के कन्द-मूल खोद रहे थे। अम्बु···आलवालकम्—अम्बुना जलेन पूर्णानि पुष्करपुटानि येषां तैः वनकरिभिः आपूर्यमाणानि विटपानां पादपानाम् आलवालकानि आधारबन्धाः यत्र तम्, जहाँ जंगली हाथी कमल-दल के बड़े दोनों में जल भरकर वृक्षों के आलवाल (थाला) सींच रहे थे। उपजात···हुताशनम्—उपजातः सञ्जातः परिचयः संस्तवः येषां तैः कलापिभिः मयूरैः पक्षपुटानां पवनेन वायुना संधुक्ष्यमाणः मुनीनां होमस्य हवनस्य हुताशनः वह्निः यत्र तम्, जहाँ हिले हुए मोरों द्वारा अपने पंखों की हवा से मुनियों की होमाग्नि प्रज्वलित की जा रही थी। अब विरोधाभास अलङ्कार द्वारा आश्रम का वर्णन किया जाता है। सुरभि···गन्धम्—सुरभिविलेपनम् अङ्गरागोचितं चन्दनादिकं धरति इति सः (सुरभेः गोः विलेपनं गोमयं यस्यां सा पृथ्वी यत्र) तं तादृशं अपि सततम् आविर्भूतः प्रकटितः हव्यधूमगन्धः यस्मात्; जो सुरभि-विलेपन (चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य, गोबर से लिपी भूमि) से युक्त होने पर भी होम के धुएँ की गन्ध प्रकट करता था। मातङ्ग···पवित्रम्—मातङ्गकुलेन चाण्डालकुलेन अध्यासितम् अपि पवित्रम् इति विरोधः चाण्डालस्य अपवित्रत्वात् परिहारस्तु मातङ्गकुलं हस्तिकुलम्, जो मातङ्ग-कुल (चाण्डालों; हाथियों के समूह) से बसा होने पर भी पवित्र था। उल्लसित···उपद्रवम्—उल्लसितम् ऊर्ध्वम् उत्थितं धूमकेतुशतं यत्र तथापि प्रशान्ताः उपद्रवाः यत्र इति विरोधः; एकस्यापि धूमकेतोरुत्था-

तस्य नक्षत्रविशेषस्योदये वा सति उपद्रवशतसम्भवात् विमुन तच्छनोदये, परिहारस्तु धूमकेतु वह्नि, जो सैकड़ो धूमकेतुओ (पुच्छल तारो, होम की अग्नियाँ) के उगने पर भी उपद्रव-रहित था। 'अग्न्युत्पातौ धूमकेतौ' इत्यमर। परिपूर्ण अन्धकारम्—परिपूर्णस्य सम्पूर्णस्य द्विजपते चन्द्रस्य मण्डलेन सनाथं सहितम् अपि सदा सर्वदा सन्निहित समीपस्थ तरुगहने इक्षकानने अन्धकार यत्र इति विरोध, परिपूर्णा ज्ञानेन पूर्णा द्विजपतय विप्रा तेषा मण्डलेन सनाथम् अपि, इति परिहार, जो परिपूर्ण द्विजपति-मण्डल (पूरे चन्द्रमा के बिम्ब, ज्ञान से भरे-पूरे विप्र-वर्गो) से युक्त होने पर भी निकटवर्ती पेड़ो के जगल के अँधेरे से सदा छाया रहता था। [पृ० ६०] अतिरमणीयम्—अतिमनोहरम्। अपरम् इव ब्रह्मलोकम्—द्वितीय ब्रह्मलोकम् इव इत्यर्थं।

यत्र च मलिनता चरितेषु—जहाँ मैलापन (कालौंस) अग्निहोत्र के धुएँ मे दिखाई देता था, (मुनियो के चरित्रो मे नही)। मुखराग कोपेषु—मुँह की लाली सुग्गो मे थी, क्रोध मे नही। तीक्ष्णता स्वभावेषु—तीक्ष्णता कुशाओ के अग्रभाग मे थी, मानव के स्वभाव मे नही। चञ्चलता मनःसु—चचलता केले के पत्तो मे थी, (मुनियो के) मन मे नही। चक्षु परकलत्रेषु—नेत्र-राग (आँखो की लाली) कोयलो मे थी, पराई स्त्रियों के लिए चक्षु-राग (वासना-भरी दृष्टि) नहीं। मेखला कलहेषु—मेखला-बन्ध (मौञ्जी-धारण) उपनयन-जैसे व्रतो मे होता था, ईर्ष्या-जन्य कलह मे (तलवार की मूँठ) नही (पकड़ी जाती थी)। स्तन कामिनीषु—होम की गौओ के ही थन छूए जाते थे, अनुराग-भरी रमणियो के स्तन नही। पक्षपात विवादेषु—पक्षपात (पखो का गिरना) कुक्कुटो मे होता था, वाद-विवाद मे पक्षपात नही। भ्रान्ति शास्त्रेषु—भ्रम (संख्या-सम्बन्धी) अग्नि की प्रदक्षिणा मे होता था, शास्त्र का अर्थ लगाने मे नही। वसु तृष्णासु—वसु देवताओं का गुण-गान दिव्य कथाओ मे होता था, तृष्णा-वश (धन की चर्चा मे) नहीं। गणना शरीरेषु—गिनती (जप में) रुद्राक्ष-माला की की जाती थी, नश्वर शरीर (सम्मान-भावना) की नहीं।

मुनि···मृत्युना—मुनियों के बालों का नाश (मुण्डन) यज्ञ-दीक्षा के समय होता था, मृत्यु से मुनि-कुमारों की शरीर-हानि नहीं। रामा ···यौवनेन—रामानुराग (राम-सम्बन्धी प्रेम) रामायण में उत्पन्न होता था, यौवन मे (स्त्री-प्रेम) नहीं। मुख···मानेन—मुख-भंग-विकार (झुर्रियों का पड़ना) वृद्धावस्था से होता था, धन के घमंड से (मुँह मोड़ना) नहीं। यत्र च महाभारते शकुनिवधः—जहाँ शकुनि-वध केवल महाभारत में था, आश्रम में पक्षि-हत्या नहीं। पुराणे वायुप्रलपितम्—वायुप्रलपित (वायु-द्वारा प्रवचन) उस नाम के पुराण में था, मुनियों में (उन्माद-रोग) नहीं। वयःपरिणामेन द्विजपतनम्—द्विज-पतन (दाँतों का गिरना) बूढ़ी उम्र में होता था, आश्रम में ब्रह्मचारियों का स्खलन नहीं। उपवनचन्दनेषु ···जाड्यम्—जड़ता (शीतलता) उपवनों के चन्दनों में थी, मुनियों के पास (जाड्य = प्रज्ञाहीनत्व) नहीं। अग्नीनां भूतिमत्त्वम्—भूति (भस्म) अग्नियों में होती थी, मुनियों में (अमीरी) नहीं। एणकानां···व्यसनम्—गान सुनने की आसक्ति मृगों की ही थी, मुनियों की नहीं। शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः—नृत्य-पक्षपात (नाचते समय पंखों का गिरना) मोरों में होता था, मुनियों में (नृत्य की अभिरुचि) नहीं। भुजङ्गमानां भोगः—भोग (शरीर) सर्पों में था, मुनियों में (वासना-सुख) नहीं। कपीनां श्रीफलाभिलाषः—श्रीफल (बिल्व-फल) की इच्छा बन्दरों को होती थी, मुनियों को (लक्ष्मी के फल की) नहीं। मूलानाम् अधोगतिः—अधोगति (नीचे फैलना) वृक्षों की जड़ों में थी, मुनियों में (अधःपतन) नहीं।

अब आश्रम में विराजमान ऋषि जाबालि का वर्णन किया जाता है। सारे द्वितीयान्त एकवचन पद 'जाबालिम्' के विशेषण हैं। तत्र च तापस··· उपविष्टम्—जाबालि एक ऐसे लाल अशोक वृक्ष के नीचे छाया में बैठे हुए थे, जिसके आलवाल में तपस्वि-कन्याओं ने पीले ऐपन (पीतपिष्ट) से पंचांगुल छापे लगाए थे और गोलाकार होने से जिसकी छाया (अवकाश) बहुत फैली हुई थी। स्थैर्येण ···संविभागम् इव कुर्वाणम्—स्थिरता से पर्वतों की, गम्भीरता से समुद्रों को, शान्ति से चन्द्रमा को तथा स्वच्छता से आकाश

को मानो हिस्सा (सविभाग) दे रहे थे। स्वकीयवस्तुन किञ्चित्किञ्चिदादाय परेभ्य प्रदाने सविभाग । वैनतेयम् पत्यम्—जिस प्रकार गरुड ने अपने प्रभाव से पक्षियों (द्विजो) पर स्वामित्व प्राप्त किया था (उपात्तम् = अर्जितम्), उसी प्रकार जाबालि ने अपने तेज से विप्रो (द्विजो) पर आधिपत्य पाया था। कमला गुरुम्—ब्रह्मा (कमलासन) (ब्रह्मचर्य आदि चार) आश्रमो के नियन्ता (गुरु = नियामक) हैं, उसी प्रकार वह उस तपोभूमि (आश्रम) के नियन्ता (गुरु = आचार्य) थे। जरत् जटाकुलम्—जैसे पुराना (जरत्) चन्दन-वृक्ष श्वेत जटा-जैसी साँप की केंचुली से ढका रहता है, वैसे ही वह भी साँप की केंचुली-जैसी धवल जटाओं में व्याप्त थे। प्रशस्त कर्णवालम्—जैसे किसी उत्तम (प्रशस्त) हस्तिपति (हाथियो के नायक) के कान और (पूंछ के) बाल लटकते रहते है, वैसे ही उनके कानों के बाल (काटे न जाने के कारण) लम्बे थे। बृहस्पति कचम्—जैसे सुराचार्य बृहस्पति ने अपने पुत्र कच को जन्म से पाल-पोसकर बडा किया था (सवर्धित), वैसे ही उन्होंने भी जन्म से अपने केश (कच) बढ़ा रखे थे। दिवस मुखम्—जैसे दिन का आरम्भ (मुख) उगते हुए सूर्य-मण्डल से दीप्तिमान् (भास्वर) रहता है, वैसे ही उनका मुख-मण्डल भी उदीयमान सूर्य-बिम्ब की तरह प्रकाशमान् था। शरत् वर्षम्—क्षीण वर्षावाली शरद्-ऋतु की तरह उनके भी वर्ष (आयु) क्षीण हो चले थे। [पृ० ६१] शान्तनु व्रतम्—जैसे शान्तनु को भीष्म (सत्यव्रत) प्रिय थे, वैसे ही उन्हे सत्य का व्रत प्रिय था। अम्बिका निपुणम्—जैसे पार्वती (अम्बिका) का हाथ भगवान् शङ्कर की आँख-रूपी (रुद्राक्ष) वलय को ग्रहण करने मे निपुण होता है, वैसे ही उनका हाथ भी रुद्राक्ष की माला फेरने मे कुशल था। शिशिर सङ्गम्—शीत-ऋतु के सूर्य क्रमश उत्तर दिशा से सम्बन्ध (उत्तरा + सङ्ग) स्थापित कर लेते हैं, वैसे ही उन्होंने उत्तरीय वस्त्र (उत्तर + आसङ्ग) धारण कर रखा था। वडवा भक्षम्—जैसे वडवानल (समुद्राग्नि) सर्वदा केवल पानी (पय) पीता रहता है, वैसे ही वह भी नित्य दुग्ध

(पयः)-मात्र पीते थे। शून्य ··शरणम्—जैसे किसी जन-शून्य नगर में घर-बार (शरणानि=गृहाणि) शोभाहीन (दीन), स्वामि-रहित (अनाथ) और नष्ट-भ्रष्ट (विपन्न=विनष्ट) हो जाते हैं, वैसे ही वह दोनों, अनाथों और विपत्तिग्रस्त लोगों के रक्षक (शरण) थे। पशु शरीरम्—जैसे महादेव (पशुपति) का शरीर भस्म से सफेद बने रोओं से व्याप्त रहता है, वैसे ही उनका शरीर भी भस्म-जैसे श्वेत रोओं से व्याप्त था।

अथ मुनिविषयकः विचारः। **अवलोक्य च अहम् अचिन्तयम्**—महर्षि जाबालि को देखकर वैशम्पायन शुक सोचने लगा। **अहो प्रभावः तपसाम्!**—अहा, तपस्या का भी कैसा प्रभाव है! **इयमस्य ··तेजांसि**—इनकी यह तपे हुए सोने के समान उज्ज्वल (अवदात) मूर्ति (स्वरूप), शान्त होते हुए भी, बिजली-सी चमचमा रही है, जिसे देखकर आँखों की ज्योति भी हतप्रभ हो जाती है (अर्थात् आँखें चकाचौंध हो जाती हैं)। **सततम्·· गतस्य**—निरन्तर उदासीन बनी रहने पर भी (इनकी यह मूर्ति) सर्वप्रथम आनेवाले व्यक्ति में भय उत्पन्न कर देती है, ऐसा है इनका महाप्रभाव। **पुण्यानि · दर्शनानि**—महामुनियों का नाम लेने से भी पुण्य होता है, फिर दर्शन की तो बात ही क्या! **बहलाज्य तपोवनम्**—घी की आहुति से उठनेवाली प्रचुर धूम-राशि से जिनका आश्रम मलिन हो रहा है, ऐसे भगवान् जाबालि के प्रभाव से मानो भय-भीत होकर सूर्य-किरणों का समूह भी तपोवन को दूर से छोड जाता है। **एते च···आशुशुक्षणयः**—जिनकी लपटें (शिखा-समूह) हवा से चंचल होकर इकट्ठी हो गई हैं और इस तरह मानो (आहुति पाने के लिए) हाथ पसार रही हैं, ऐसी होमाग्नियाँ (आशुशुक्षणयः) महर्षि के प्रेम के कारण मन्त्रों से पवित्र की गई आहुतियों को प्रेमपूर्वक ग्रहण कर रही हैं। पवनेन लोलः चपलः पुञ्जीकृतः च शिखाकलापः ज्वालासमूहः येषां ते तादृशाः। 'शिखावान् आशुशुक्षणिः' इत्यमरः। एतत्प्रीतया—एतस्य महर्षिजाबालेः प्रीत्या स्नेहेन। **तरलित···गन्धवाहः**—आश्रम-लताओं के फूलों की तृप्तिकर सुगन्ध (सुरभिपरिमलः) से युक्त यह पवन महर्षि के

रेशमी वस्त्र-जैसे वल्कल को हिलाकर, मानो डरते-डरते (सशङ्क इव), धीरे-धीरे बहता हुआ, इनके समीप आ रहा है। 'सुरभिर्घ्राणतर्पण' इत्यमर। तरलित कम्पित दुकूलवत् क्षौमवसनवत् वल्कल येन स तादृश। प्रायो तेजांसि—(सिंह, हाथी आदि) महाप्राणियों के भी तेज का बड़ी कठिनाई से सामना किया जा सकता है। महाभूतानाम्—महाजन्तूनां मृगपतिगजादीनाम्, पृथिव्यादीनां वा। दुरतिक्रमाणि—दुःखेन अतिक्रमितुं शक्यानि। सकलतेजस्विनाम् अयं अग्रणी—(फिर यह तो) समस्त तेजस्वियों में अग्रगण्य है।

६

प्रवाह करुणारसस्य—करुण रस के प्रवाह। संसारतरण०—संसार-सागर तरने के लिए सेतु। आधार ०—क्षमा-रूपी जल के आधार। परशु ०—तृष्णा-रूपी लताओं के जंगल (गहन) को काटने के लिए कुल्हाड़ी। उपदेष्टा०—मोक्ष-पथ के उपदेशक। अस्तगिरि०—दुष्ट ग्रहों के अस्ताचल। मूलम्०—शान्ति-रूपी वृक्ष की जड़। नाभि ०—बुद्धि-रूपी चक्र की नाभि (केन्द्र-स्थान)। स्थिति०—धर्म-रूपी ध्वजा को स्थिर रखनेवाले बाँस। स्थितिवंश =अवस्थानवेणु। तीर्थम्०—समस्त विद्याओं के प्रवेश (अवतार) के लिए तीर्थ। बडवानल—लोभ-रूपी समुद्र (को सोखने) के लिए बडवानल। निकषो०—शास्त्र-रूपी रत्नों की कसौटी (निकषोपल =उत्कर्षापकर्षपरीक्षकप्रस्तर)। दावानल ०—विषयों में आसक्ति-रूपी पत्ते (को जलाने) के लिए दावाग्नि। मन्त्र ०—क्रोध-रूपी सर्प (के वशीकरण) के लिए मन्त्र। दिवस०—मोह (अज्ञान)-रूपी अँधेरे के लिए सूर्य। अर्गला०—नरक-द्वारों के अर्गला-बन्ध (कपाटसंयन्त्रणकीलक, दरवाजा बन्द करने की कुंडी)। [पृष्ठ ६२] कुलभवन०—सदाचारों के कुल-परम्परागत आश्रम-गृह (कुलभवन, मूलगृह)। आयतनम्=निकेतनम्। अभूमि ०—अहङ्कार-वृत्तियों के लिए अपात्र। उत्पत्ति—जन्म-स्थान। नेमि ०—उन्माद (अध्यवसाय)-रूपी चक्के के नेमि (प्रान्त-भाग)। आश्रय ०—सत्त्वगुण के आधार। प्रतिपक्ष०—कलियुग के शत्रु। कोश =निधि,

भण्डार। क्षेत्रम्०—सरलता के उत्पत्ति-स्थान। प्रभवः०—पुण्यों के जनक। अदत्ता०—ईर्ष्या-द्वेष को जिन्होंने (अपने अन्दर) कोई स्थान नहीं दिया है। अरातिः विपत्तेः—विपत्तियों के शत्रु (अराति.)। अस्थानं परिभूतेः—अनादर के लिए अनुपयुक्त। अननुकूलो०—अभिमान के लिए प्रतिकूल। असम्मतो दैन्यस्य—क्षुद्रता या हीनता के सम्मत या इष्ट नहीं। अनायत्तो रोषस्य—क्रोध के अधीन नहीं। अनायत्तः—अवशगः, अनधीनः। अनभिमुखः सुखानाम्—सुखों की ओर इन्होंने कभी मुख नहीं किया। अनभिमुखः—अनिच्छुक.।

अस्य भगवतः तपोवनम्—इन्हीं भगवान् जाबालि के प्रसाद से तपोवन में (प्राणियों की) परस्पर शत्रुता मिट गई है और उनका द्वेष-भाव दूर हो गया है। अपगत दूरीभूतः मत्सरः परगुणोत्कर्षासहन यस्मात् तथाविध वर्तते। अहो—आश्चर्यम्। हि—क्योंकि। अत्र · अनुभवन्ति—यहाँ पशु-पक्षी भी अपनी चिरकालीन पारस्परिक शत्रुता त्यागकर शान्त चित्त से आश्रम में रहने का सुख उठा रहे हैं। तथाहि—उदाहरणार्थ। अभिनव · अहिः—यह साँप धूप से घबराकर (आतपाहतः) मोर के पंखों में नई घास के ढेर की तरह निर्भय प्रवेश कर रहा है। शेष द्वितीयान्त पद 'कलापम्' (मोरपख) के विशेषण हैं। विकचोत्पलवनरचनानुकारिणम्—विकच विकसित यद् उत्पलवनं नीलकमलवनं तस्य रचनायाः निर्मितेः अनुकारिणम्, विकसित नीलकमल-वन की सृष्टि का अनुकरण करने-वाले। उत्पतच्चारुचन्द्रकशतम्—उत्पतत् ऊर्ध्वं गच्छत् चारु मनोहरं चन्द्रकाणां मेचकानां शतं यस्मिन् तम्, ऊपर उठे हुए सैकड़ों मनोहर चन्द्राकार चिह्नों से अंकित। हरिणलोचनद्युतिशबलम्—हरिणस्य या लोचन-द्युतिः नेत्रकान्तिः तद्वत् शबलं कर्बुरम्, हिरनों के नेत्रों की शोभा की तरह रंग-बिरंगे। अयम् उत्सृज्य· सिंहीस्तनम्—सिंह के बच्चों से जिनकी अयाल अभी उगी नहीं है, हिला हुआ यह मृग-छौना अपनी माँ को छोड़कर शेरनी के झरते दूधवाला स्तन पी रहा है। अजातकेसरैः—अनुत्पन्नसटैः। एषः मृणाल···मृगपतिः—हाथी के बच्चे सिंह को चन्द्र-रश्मि

के समान शुभ्र अयाल को कमल-नाल (मृणाल) समझकर खींच रहे हैं और वह मृगपति अपनी आँखें मूँदकर इस अनुभव का आनन्द उठाता है। मृणालान्य विसाना कलाप समूहम् आशङ्कन्ते तच्छीला तैं द्विरदाना हस्तिना कलभैं पोतैं आकृष्यमाणम् अवकृष्यमाण शशिकरधवल चन्द्र-किरणवद् विशद सटाभार केसरसमूह आमीलिते निमीलिते लोचने येन तादृश मन् बहु मन्यते। इतमहि फलानि—ये वानरगण अपनी स्वाभाविक चपलता को छोडकर स्नान किये हुए मुनिकुमारों को (भोजन के लिए) फल लाकर दे रहे हैं। एते च न निवारयन्ति करिण —ये हाथी मद से अन्धे होने पर भी, दया-वश उन भौंरों को कान हिलाकर नहीं उड़ाते, जो उनके गण्डस्थल पर निश्चल होकर मद-जल पी रहे हैं'। किं बहुना—और तो क्या ! तापसाग्नि भगवत —भगवान् जावालि के ये छालवाले (वल्कलिन), फल-मूल-धारी, निश्चेतन वृक्ष भी, तपस्वियों के अग्निहोत्र से निरन्तर उठती हुई धूमलेखाओं के रूप में कृष्ण मृग-चर्म का उत्तरीय पहने हुए, मुनियों का व्रत साधते हुए दिखाई देते हैं। तापसाना मुनीना यानि अग्निहोत्राणि तेषा धूमलेखाभि दहनकेतन-पङ्क्तिभि । उत्सर्पन्तीभि उत्तिष्ठन्तीभि । अनिश सततम् । उत्पादिता विहिता कृष्णाजिनोत्तरासङ्गस्य कृष्णसारमृगचर्मरचितोत्तरीयस्य शोभा कान्तिरिव शोभा येषु ते तादृशा । किं पुन०— फिर सचेतन प्राणियों की तो बात ही क्या है।

१४—अतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्

राजकुमार चन्द्रापीड को अमात्य शुकनाम द्वारा दिया गया प्रस्तुत उपदेश मानो हर नवयुवक को लक्ष्य करके लिखा गया है और कवि के व्यापक सांसारिक अनुभव का मार्मिक रूप में अभिव्यक्त करता है। यौवन

की दुर्बलताओं, लक्ष्मी के मद, धन की अस्थिरता, चाटुकारों की खुशा-मद एवं विषय-भोगों के आकर्षण को गद्याचार्य बाणभट्ट ने समीचीन दृष्टान्तों, उपयुक्त उपमाओं, तीखे व्यंग्यों और चुटीले कटाक्षों के साथ अंकित किया है तथा प्रकारान्तर से शील और संयम, आचार-शुद्धि और चारित्रिक स्थिरता का प्रभावशाली उपदेश दिया है। भारतीय आदर्शों और मान्यताओं के अनुरूप रचित यह भव्य उपदेश संस्कृत के गद्य-साहित्य में बेजोड़ है।

[पृ० ६३] **निसर्गतः**—स्वभावतः, स्वभाव से ही। **अभानुभेद्यम्**—(आगामी पद तमः के विशेषण हैं)—सूर्यरश्म्या अपि अनुच्छेद्यम्, जो सूर्य-किरणों से भी नहीं भेदा जा सकता। **अरत्नालोकोच्छेद्यम्**—न रत्नानां मणीनां आलोकेन प्रभया उच्छेद्यं दूरीकर्तुम् योग्यम्, जो रत्नों के प्रकाश से भी दूर नहीं किया जा सकता। **अप्रदीपप्रभापनेयम्**—न प्रदीपप्रभया दीपालोकेन अपि अपनयं दूरीकरणीयम्, जो दीपक के प्रकाश से भी हटाया नहीं जा सकता। **अतिगहनं तमः यौवनप्रभवम्**—दुर्दमनीयं तारुण्यजनितं तमः अज्ञानं विचारशक्त्यावारकम्, युवावस्था से उत्पन्न होनेवाले अज्ञान या अविवेक का अंधकार अत्यन्त अभेद्य होता है। समान भाव के लिए देखिए 'काव्यादर्श' (२।१९७)—'अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः। दृष्टिरोधकरो यूनां यौवनप्रभवं तमः॥' **गर्भेश्वरत्वम्**—गर्भात् प्रभृति गर्भसम्भवात् आरभ्य ईश्वरत्वं धनसम्पन्नता, गर्भ अर्थात् जन्म से ही धन-सम्पत्ति। **अभिनवयौवनत्वम्**—नूतनं तारुण्यम्, उठती जवानी। **अप्रतिमरूपत्वम्**—अनुपमं सौन्दर्यम्। **अमानुषशक्तित्वम्**—अलौकिकसामर्थ्यम्। चकारः समुच्चयार्थः। इति समाप्तौ। **महती इयं खलु अनर्थपरम्परा**—अनर्थकारी वस्तुओं का यह निश्चय ही बड़ा विकट संयोग है। **सर्व... आयतनम्**—इनमें से प्रत्येक (बात) सब प्रकार के अविनयों (दुष्कर्मों) का घर है। **किमुत समवायः**—फिर इन सबके समूह का तो कहना ही क्या! 'हितोपदेश' में भी ऐसा ही भाव व्यक्त हुआ है—'यौवनं धन-सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥'

शास्त्रजलनिर्मलतापि—शास्त्रम् आगम एव जलं तेन प्रक्षालन शोधनं तेन निर्मला अपगतमला अपि, निर्गत अज्ञानरूपमलं यस्याः तादृशी अपि, शास्त्रों के (अध्ययन-रूपी) जल से धुलकर निर्मल होने पर भी। **कालुष्यम् उपयाति**—मालिन्यं प्राप्नोति, सदसद्विवेकाक्षमा भवति इत्यर्थः, काली (मलिन) हो जाती है, सत् और असत् का विवेक खो देती है। **यूनां दृष्टि**—युवकों की दृष्टि, अपनी मर्यादा को न छोड़ते हुए भी, सराग (राग वासनायुक्त) हो जाती है। **अनुज्झितधवलता**—न उज्झिता न त्यक्ता धवलता श्वेतता यया सा। **सरागा**—रागेण सह वर्तमाना, रागः रक्तत्वम् इति विरोधः, पक्षे रागः विषयाभिलाष इति परिहारः। **अपहरति प्रकृति**—युवावस्था में मनुष्य की प्रकृति, जिसमें रजोगुण के कारण भ्रम हो जाता है (सभी बातें उलटी लगने लगती हैं), मनुष्य को सदा दूर खींच ले जाती है, वैसे ही जैसे बवण्डर (वात्या), जिसमें धूल चक्कर खाकर उठती है, अपने में पड़े सूखे पत्ते को दूर उड़ा ले जाता है। **समुद्भूतरजोभ्रान्ति** (प्रकृति और वात्या दोनों का विशेषण)—(१) समुद्भूता समुत्पन्ना रजसा रजोगुणेन भ्रान्तिः भ्रमः यस्याः सा प्रकृति, जिसमें रजोगुण के आधिक्य से वस्तुओं का भ्रान्त ज्ञान होता है। रजोगुण के अतिरेक से मन वासनामय हो जाता है और विवेक नष्ट हो जाता है। तुलना कीजिए—'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्', 'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥" (२) समुद्भूता रजसा रेणुना भ्रमः भ्रमरः यस्याः सा वात्या बवण्डर, जिसमें धूल चक्कर खाकर उठती है। **इन्द्रियहरिणहारिणी**—इन्द्रियाणि करणानि एव हरिणाः तेषां हारिणी विलोभिनी, इन्द्रिय-रूपी मृगों को लुभानेवाली। **अतिदुरन्ता**—विनाशकारी परिणामवाली, अथवा अन्तहीन। **उपभोगमृगतृष्णिका**—उपभोग शब्दस्पर्शादिविषयोपभोग एव मृगतृष्णिका मरुमरीचिका, विषय-भोग-रूपी मृगतृष्णा। **नव मनसि**—नई जवानी से आत्मा के विकृत (कषायित) होने पर मन को भिन्न-भिन्न विषय-भोग, आस्वादन किये जाने पर, वैसे ही अधिक

मधुर लगते है, जैसे मुँह के कसैला हो जाने पर जल अधिक मीठा लगने लगता है। **नाशयति···विषयेषु**—विषयो मे अत्यन्त आसक्ति मनुष्य को कुमार्ग पर ले जाती है और अन्त मे उसे नष्ट कर देती है, जैसे दिग्भ्रम मनुष्य को गलत रास्ते पर डालकर कष्ट देता है। **दिङ्मोहः**—(१) मार्ग-भ्रष्ट हो जाना; (२) दिग्-भ्रम। **उन्मार्गप्रवर्तकः**—(१) उत्कान्त. मार्गात् उन्मार्गः कुपथः तत्र प्रवर्तयति इति, मनुष्य को बुरे रास्ते ले जाता है अथवा धर्म-पथ से विचलित कर देता है (अत्यासङ्गः के पक्ष मे); (२) उन्मार्गे अपथे प्रवर्तयति इति, गलत (अन्यत्र ले जानेवाले) रास्ते पर लगा देता है (दिङ्मोह के पक्ष मे)। **गुरु··· भव्यस्य**—गुरुओं के सीधे-सरल वाक्य दुष्ट या अयोग्य व्यक्ति के कानों मे पड़कर उसे अप्रिय लगते हैं, जैसे जल, निर्मल होने पर भी, जब कान में भर जाता है, तो पीड़ा पहुँचाता है। **अमल**—(१) सरल भाववाले (गुरु-वचन); (२) निर्मल, स्वच्छ (सलिल)। **श्रवणस्थितम्**—(१) सुने हुए (गुरु-वचन); (२) कान में भर जानेवाला (जल)। **शूलम्**—(१) कटु; (२) पीड़ा। **अभव्यस्य**—भवति इति भव्यः साधुः, सः न भवति इति तस्य असाधोः, यद्वा अयोग्यस्य। **अपगत···गुणाः**—जब मन दोष-रहित हो जाता है तभी उसमें उपदेश की हितकारक बाते घुसती है, जैसे साफ की गई स्फटिक-मणि में ही चन्द्रमा की किरणे (रजनिकरगभस्तयः) प्रवेश कर सकती है। **अपगतमले**—(१) अपगता मलाः संशयविपर्यय-मोहादिरूपा. यस्मात् (मन के साथ); (२) अपगत मल. कालुष्यं यस्मात् (स्फटिक के साथ)। तुलना कीजिए—'प्रभवति शुचिर्बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदां चयः'; 'धीरेषु सत्कविवचो लभते विकासम्।' आगे के वाक्य मे गुरूपदेश की भव्यता का रूपकात्मक वर्णन किया गया है। **अखिल···स्नानम्**—गुरु का उपदेश एक ऐसा स्नान है, जो जल के बिना ही किया जाकर समस्त (अज्ञानजन्य) मल को दूर कर देने की सामर्थ्य रखता है। **अनु···वृद्धत्वम्**—गुरूपदेश वृद्धावस्था की तरह है (वृद्धावस्था के अनुभव आदि गुणों को उत्पन्न कर देता है), जिसमें सफेद बालों के

आ जाने से (शरीर में) कुरूपता नहीं होती और मनुष्य (आयु से) बूढ़ा नहीं होता। मनु ने वृद्ध की परिभाषा इस प्रकार की है—'न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥' **अनारोपित करणम्**=अनारोपितं अकारितं मेदसः वसायाः दोषः येन एवंभूतं गुरुकरणं स्थूलीकरणम्, गुरु का उपदेश शरीर में मेदस् (चर्बी) बढ़ाए बिना ही मनुष्य को भारी कर देता है (महत्त्वपूर्ण बना देता है)। **असुवर्ण भरणम्**=नास्ति सुवर्णस्य विरचनं घटना एतादृक् कर्णाभरणं कर्णभूषणम् अग्राम्यं सुन्दरं च, गुरूपदेश एक ऐसा कान का आभूषण है, जो न तो सोने का बना है और न ग्राम्य (गँवार) है, अर्थात् गुरु का उपदेश, श्रवण करनेवाले व्यक्ति को सभ्य और शिष्ट बना देता है। **अतीत-ज्योति आलोक**=यह बिना दीपक का प्रकाश है, अर्थात् गुरु का उपदेश अन्य सब प्रकाशों से विलक्षण है, वह अन्तःकरण में जलकर प्रकाश करता है और अज्ञानान्धकार को दूर करता है। **न उद्वेगकर प्रजागर**—यह वह जागरण है (कर्तव्य और धर्म के प्रति जागरुकता है), जो कष्ट नहीं देता। **विशेषेण तु राज्ञाम्**= ये सब बातें राजाओं के लिए विशेष रूप से सुनने योग्य हैं। **अहङ्कार कारिता**—अहङ्कार एव दाहज्वरः सन्तापकारी ज्वरः तेन या मूर्च्छा तया अन्धकारिता लुप्तसंज्ञा, अहंकार-रूपी दाहक ज्वर से होनेवाली मूर्च्छा ने जिसकी चेतना मिटा दी है। **विह्वला**=व्याकुल, कर्तव्य-ज्ञान-शून्य। **राजप्रकृति**=राजाओं का स्वभाव। **अलीका भारीणि**=अलीकः मिथ्या यः अभिमानः गर्वः आत्मयुत्सर्पारोपः वा स एव उन्मादः व्याधिविशेषः, यद्वा अलीकाभिमानेन यः उन्मादः चित्तविभ्रमः तं कुर्वन्ति एवंशीलानि धनानि, धन झूठा अभिमान-रूपी उन्माद-रोग (चित्त-भ्रम, अविवेक) पैदा करनेवाला होता है। तुलना कीजिए—'मदयन्त्युद्धता दोषा यस्मादुन्मार्गमाश्रिता। मान-सोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तित॥' सुश्रुत। **राज्यविषविकारतन्द्रा-प्रदा**—राज्यम् एव विषं तेन यः विकारः विकृतिः तेन कृता या तन्द्रा प्रमीला तत्प्रदा, राज्य-रूपी विष के प्रभाव से आनेवाली निद्रा (अविवे-

किता) देनेवाली।

कल्याणाभिनिवेशी—कल्याणे मङ्गले अभिनिवेश: आग्रह: यस्य एव-भूत: त्वम्, कल्याणकारी कार्यों को करने मे कटिबद्ध। चन्द्रापीड़ को इस विशेषण से सम्बोधित कर शुकनास यह संकेत करता है कि वह इस उपदेश को सुनने का अधिकारी है। आलोकयतु—विचारयतु। शुकनास अब लक्ष्मी के दोषों का वर्णन करता है। [पृष्ठ ६४] दृढगुण०—दृढ गाढं गुणा: शौर्यादय:, यद्वा 'सन्धिर्नाविग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रय:' इति षड्गुणा: नीतिशास्त्रसम्मता: गुणा:, ते एव पाशा: तै: सन्दानं बन्धनं तेन निष्पन्दीकृता अपि निश्चलीकृता अपि; रस्सी के फन्दे के मजबूत बन्धन से जकड़ी होने पर भी; अथवा शौर्य, औदार्य, या राजनीति में कथित षड्गुणों आदि से परिश्रमपूर्वक उपार्जित करके स्थायी बनाए जाने पर भी। **न अभिजनम्** (कुलम्) **ईक्षते**—ऊँचे कुल का विचार नहीं करता। कुल ऊँचा हो और धनाढ्य भी हो; यह आवश्यक नहीं। **न वैदग्ध्यं गणयति**—चतुरता को भी कुछ नहीं समझती। चतुर पुरुष भी धन नहीं प्राप्त कर पाते। **न त्यागम् आद्रियते**—त्याग (दान) के लिए भी अपने मन में आदर नहीं रखती। कंजूस के घर में भी लक्ष्मी देखी जा सकती है। **विशेषज्ञताम्**—विशेषेण सर्वार्थवेदिताम्। अब कवि उत्प्रेक्षाओं द्वारा लक्ष्मी की अस्थिरता का वर्णन करता है। **कमलिनी०**—कमलिनीषु संचरण-व्यतिकरेण संचरणयोगेन लग्ना. नलिननालस्य कण्टका: यस्या: यद्वत्, मानो कमलिनी-वनों मे घूमने से इसके पैर में कमल-नाल के काँटे लग गए हों, इसलिए **न क्वचित् निर्भरम् आबध्नाति पदम्**—कहीं निश्चिन्त होकर पैर नहीं रखती। पदम् का अर्थ स्थान भी हो सकता है; काँटा लगा होने के कारण वह कहीं बैठने का स्थान निश्चिन्त होकर नहीं बनाती या नहीं बैठ सकती। **यथा यथा···उद्वमति**—ज्यों-ज्यों यह चंचल लक्ष्मी अपना प्रकाश दिखाती (किसी मनुष्य के पास रहती) है, त्यों-त्यों यह काले (बुरे) कामों को ही उत्पन्न करती है, जैसे दीपक की लौ ज्यों-ज्यों जलती है, त्यों-त्यों काजल ही पैदा करती है। **निर्भरम् उपगूढ:**—

प्रगाढ आलिङ्गन किया हुआ। ऐसा कोई व्यक्ति नही जिसके पास लक्ष्मी सदैव रहती हो। विप्रलब्ध —ठगा हुआ। जब मनुष्य को धन मिल जाता है और वह उसका उपभोग करने की सोचता है, तभी वह उससे हाथ धो बैठता है। आलेख्यगता अपि चलति—चित्र-लिखित होने पर भी चलती है। पुस्तकमयी अपि—पुस्तकों मे केवल लिखी होकर भी। इन्द्रजालम् आचरति—जादू रचती है। उत्कीर्णा (उत्+कृ+क्त)—पत्थर आदि पर उकेरी हुई। विप्रलभते—धोखा देती है। अभिसन्धत्ते—सशय करोति। वञ्चयति=विप्रलभते।

दैववशेन—दुर्दैवेन। परिगृहीता —स्वीकृता। विक्लवा -विह्वला, सर्वत हता इत्यर्थ। सर्वाविनय सद्दच्छन्ति—सब प्रकार की बुराइयों के घर बन जाते हैं। अविनयानाम्—दुर्बुद्धीनाम्। दाक्षिण्य प्रक्षाल्यते—उनकी उदारता नष्ट कर दी जाती है। दक्षिणस्य भाव दाक्षिण्यम्। 'दक्षिण सरलोदार परच्छन्दानुवर्तिषु' इति शाश्वत। अपह्रियते—हर ली जाती है। उत्सार्यन्ते—दूरीनियन्ते। श्रमवशचपलाभि (यह और आगे के दो तृतीयान्त पद 'सम्पद्भि' के विशेषण हैं)—श्रमवशेन प्रयासाधिक्येन शिथिल हलथ अदृढ शकुने मयूरस्य अन्यस्य वा पक्षिविशेषस्य य गल कण्ठ तस्य स्फुट तद्वत् चपलाभि चञ्चलाभि, अधिक परिश्रम करने के कारण थके हुए मोर आदि पक्षियो के (हाँफते) गले के समान चचल। मयूरस्य कण्ठ श्रमवशेन अत्यन्त चपल स्यात् इति तदुपमानम्। खद्योतो मनोहराभि —खद्योत ज्योतिरिङ्गण तस्य य उन्मेष अवभास तद्वत् मुहूर्तं क्षण मनोहराभि चित्तहारिणीभि, जुगनू की चमक की तरह क्षण-भर मनोहर लगनेवाली। मनस्विजनगर्हिताभि —मनस्विजना पण्डितलोका तै गर्हिताभि निन्दिताभि, बुद्धिमानो द्वारा निन्दित। प्रलोभ्यमाना —लोभ प्राप्यमाणा, लुब्ध किए जाकर। रागावेशेन बाध्यमाना —तीव्र इच्छाओं से पीडित होकर। आसन्नमृत्यव इव०—उन लोगो की तरह जिनकी मृत्यु समीप ही है, वे स्वजनो को भी नही पहचानते। नाभिजानन्ति—नोपलक्षयन्ति। पापेन इव आध्मातमूर्तय (स्थूलदेहा)—

मानो पाप से मोटे होते जाते हैं। व्यसन · उपगताः—व्यसनानां द्यूतादीनां शतं तस्य सख्यातां मित्रताम् उपगता प्राप्ता, सैकड़ों व्यसनों (बुरी आदतों) से उनकी मित्रता हो जाती है। वल्मीक विन्दवः इव बाँबियों के ऊपर उगनेवाली घास के अग्रभाग में स्थित जल-कणों के समान।

राजाओं के दोष गिनाने के बाद अब श्रीमन्तों के दोष गिनाए जा रहे हैं। वाक्य इस प्रकार है—अपरे तु धूर्तैः स्तुतिभिः प्रतार्यमाणा सर्वजनस्य उपहास्यताम् उपयान्ति। स्वार्थनिष्पादनपरैः—अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले; परैः=तत्परैः। आगे के पद 'धूर्तैः' के विशेषण हैं। धनपिशितग्रासगृध्रैः—धनं द्रव्यं तदेव पिशितं मांसं तस्य ग्रासे ग्रहणे गृध्रैः दूरदृग्भिः यथा तथा द्रव्यार्जनपरैः इत्यर्थः, धन-रूपी मांस को खाने के लिए गीध के समान (लोलुप)। आस्थाननलिनीबकैः—आस्थानं राजसभा तदेव नलिनी कमलिनी तस्यां बकैः इव स्थितैः, राजसभा-रूपी सरोवर में खड़े हुए बगुलों के समान। द्यूतं विनोद इति·· दोषान् अपि गुणपक्षम् अध्यारोपयद्भिः—अर्थात् ये धूर्त लोग धनवालों को समझाते हैं कि जुआ तो एक प्रकार का मनोरंजन है, पाप नहीं; शराब पीना विलास है, लापरवाही (प्रमत्तता) साहस है, बड़ों की आज्ञा का उल्लंघन करना स्वतन्त्रता है, अपनी इच्छानुसार कार्य करना प्रभुता का सूचक है, बिना सोचे हुए ही शीघ्र काम करना उत्साह है, इस तरह दोषों को भी गुण बनाते हैं। अपरप्रणेयत्वम्—परप्रणेयत्वं परवशता तद्राहित्यं स्वातन्त्र्यम् इत्यर्थः। [पृ० ६५] प्रतारणकुशलैः—प्रतारणा वञ्चना तत्र कुशलैः अभिज्ञैः। प्रारब्ध···भावाः—प्रारब्धाः याः दिव्योचिताः देवजनयोग्याः चेष्टाः क्रियाः ताभिः अनुभाव. माहात्म्यं येषां ते तथा, बड़ों की चेष्टाओं का और उनके बड़प्पन का मिथ्यानुकरण करनेवाले। उपहास्यताम् उपयान्ति—(प्राप्नुवन्ति)—सब लोगों के उपहास के पात्र बनते हैं। दर्शन गणयन्ति—दर्शन देने को ही कृपा समझते हैं; लोकानां दर्शनप्रदानं स्वात्मप्रकटनम् अनुग्रहं प्रसादं गणयन्ति मन्यन्ते। दृष्टि · स्थापयन्ति—देख-भर लेने को उपकार कर लेना मान लेते हैं। स्पर्शम्·· आकलयन्ति—अपने स्पर्श को

ही पवित्र करनेवाला मान लेते है (आकलयन्ति=विचारयन्ति)। मिथ्या-माहात्म्यगर्वनिर्भरा—मिथ्या वृथा यो माहात्म्यगर्वः माहात्म्याभिमान-तेन निर्भरा भृता, अपने झूठे बड़प्पन के अभिमान से भरे हुए। अभ्यु-त्तिष्ठन्ति=उत्थानं कुर्वन्ति। जरा उपदेशम्—जरा वार्द्धक्यं तस्या-वैक्लव्यं विकलता तेन प्रलपितं जल्पितम्, बूढ़ों के उपदेश को बुढ़ापे में विकल हुई बुद्धि का प्रलाप' (बकवास) समझते हैं। आत्म देशाय—मंत्रियों की मन्त्रणा को अपनी निजी बुद्धि की हार मानकर उससे ईर्ष्या करते हैं। 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' सूत्र के अनुसार 'असूयन्ति' के योग में 'सचिवोपदेश' में चतुर्थी हुई है। पार्श्वे कुर्वन्ति—बगल में बैठा लेते हैं। संवर्धयन्ति—वृद्धि प्रापयन्ति। आप्ततामापादयन्ति—शिष्टतां प्रतिपादयन्ति, उसे शिष्टता की कोटि प्रदान करते हैं। उपरचिताञ्जलि—हाथ जोड़कर। आधिदैवतम्—स्वामी, इष्टदेव। विगतान्यकर्तव्य—अन्य कर्तव्यों की उपेक्षा करके। माहात्म्यम् उद्भावयति—उसके बड़प्पन को बढ़ाता है।

एवंप्राये—अधिकतर इस प्रकार के। राज्यतन्त्रे—राज्य-व्यवहार में। महामोहकारिणि—अत्यन्त मोह उत्पन्न करनेवाले। न उपालभ्यसे—मित्रों द्वारा तुम्हें उलाहना न दिया जाए। विटै—असदाचरणकारिभिः। न अवलुप्यसे सेवकवृकैः—कहीं ऐसा न हो कि सेवक-रूपी भेड़ियों द्वारा तुम्हारा अनिष्ट कर दिया जाए। न प्रलोभ्यसे—लुब्ध न किए जाओ। वामता—सुन्दरी। न उन्मत्तीक्रियसे—उन्मत्त न बना दिए जाओ। न आक्षिप्यसे—न प्रेर्यसे, कहीं विषय-भोग तुम्हें कुमार्ग पर न ले जायँ। न विकृष्यसे—आकृष्यसे, वश में न कर लिए जाओ। अपह्रियसे—परि-त्यज्यसे, कहीं सुख तुमसे मुँह न मोड़ लें। तरलहृदयम्—चंचल-चित्त। अप्रतिबुद्धम्—बोधरहितम्। मदयन्ति—समदं कुर्वन्ति, नशे में कर देते हैं। अभिजातम्—कुलीनम्। दुर्विनीता—अपगतविनया इत्यर्थः। स्खली-करोति—सन्मार्गात् स्खलनां प्रापयति, पथभ्रष्ट कर देती है। कुल धुरम्—कुल-परम्परा से प्राप्त उस उत्तरदायित्व का वहन करो,

जिसे तुम्हारे पूर्वजो ने भी उठाया है। अवनमय—नम्राणि कुरु, झुका दो।

१५—प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो द्वै धर्मः

धर्म के सम्बन्ध में साधारण जनता का मन काफी उलझा रहता है। इस लोक को सुधारें या परलोक को, यह गुत्थी है जिसे जितना सुलझाओ, उतना उलझती जाती है। पर वास्तव में इस गाँठ को खोलने का ढंग बहुत सरल है। वह ढंग है वेदान्त। वेदान्त की दृष्टि से ही श्री शङ्कराचार्य (७८८—८२० ई०) ने श्रीकृष्ण के गीतोक्त उपदेश की व्याख्या की है, जिसके अनुसार धर्म और कुछ नहीं, पूर्ण नि.स्वार्थ भाव से तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से अपने कर्तव्य का पालन-मात्र है।

सः ' वेदोक्तम्—प्रजापति ब्रह्मा ने इस जगत् की सृष्टि की और उस सृष्टि को स्थिर रखने के प्रयोजन से (स्थिति चिकीर्षुः) सर्वप्रथम मरीचि आदि मुनियों को उत्पन्न किया तथा उन्हें वेदों में प्रतिपादित प्रवृत्ति-रूप धर्म का उपदेश दिया। चिकीर्षुः (कृ+सन्+उः) = विधित्सुः। ग्राहयामास (उपदिदेश)—ग्रह् + णिच्, लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन। ततः'' ग्राहयामास—मरीचि आदि मुनियों की सृष्टि कर चुकने के अनन्तर भगवान् ने पुनः सनक, सनन्दन आदि को उत्पन्न किया और उन्हें ज्ञान तथा वैराग्य आदि लक्षणों से युक्त निवृत्ति-रूप धर्म में दीक्षित किया। तत्र एकः'''हेतुः—सांसारिक जीवन की स्थिति, अर्थात् प्राणि-मात्र को लौकिक प्रगति (अभ्युदय) एवं पारलौकिक सद्गति (निःश्रेयस), धर्म के इन दो रूपों (प्रवृत्ति और निवृत्ति) में से प्रवृत्ति (तत्र एकः) पर आश्रित है। यः सः धर्मः'''अनुष्ठीयमानः—चारों वर्ण तथा चारों आश्रम अपने-अपने श्रेय की इच्छा से इसी प्रवृत्ति-रूप धर्म का अनुसरण करते हैं।

अनुष्ठीयमान (क्रियमाण)–अनु+स्था+(कर्मवाच्ये)यक्+शानच्। **दीर्घेण अध्वना**—(यह प्रवृत्तिमयी वर्णाश्रम-व्यवस्था) बहुत युगों तक यथावत् चलती रही, किन्तु बाद में काम की प्रवृत्ति के बढ़ जाने से धीरे-धीरे लोगों का विज्ञान तथा विवेक नष्ट होता गया (हीयमाने) और इस प्रकार धर्म पर अधर्म हावी हो गया—अधर्म का ही बोलबाला हो गया। हीयमान हेतुकेन—हीयमानयो क्षीयमाणयो विवेकविज्ञानयो हेतुकेन हानौ हेतुभूतेन (अधर्मेण)। **जगत सम्बभूव**—तब जाकर सृष्टि के पालक रूप भगवान् विष्णु अर्थात् नारायण को चिन्ता हुई कि किस प्रकार इस स्थिति को सम्हाला जाए (स्थितिं परिपिपालयिषु), किस प्रकार सृष्टि के मूल तत्त्व विशुद्ध (भौम) ब्रह्म की रक्षा की जाए, किस प्रकार ब्राह्मण-धर्म को सुरक्षित रखा जाए ?, यह सोचकर वह वसुदेव के अंश से देवकी के गर्भ से भगवान् कृष्ण के रूप में जन्मे। परिपिपालयिषु—परि+पाल्+णिच्+सन्+उ। ब्राह्मणत्वस्य भेदानाम्—ब्राह्मण-धर्म की रक्षा ही सच्चे अर्थों में वैदिक धर्म की रक्षा है, क्योंकि सम्पूर्ण वर्णाश्रम-व्यवस्था एवं ब्राह्मण-वर्ग की दृढ़ता पर ही आश्रित है।

स च भगवान् सम्पन्न—भगवान् तो सदा ही अपनी प्रकृति के द्वारा ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज आदि से सम्पन्न हैं। **त्रिगुणा वशीकृत्य**—सो उन्होंने सत्त्व-रज-तमोमयी अपनी स्वभाव-सिद्ध (मूल) प्रकृति (वैष्णवी मायाम्) को अपना साधन बनाया (वशीकृत्य)। **अजो लक्ष्यते**—भगवान् तो स्वभाव से ही अजन्मा, अपरिवर्तनशील (अव्यय), प्राणि-मात्र के स्वामी हैं, सदा-सर्वदा अनासक्त (शुद्ध), चित्स्वरूप (बुद्ध) तथा निर्लिप्त (मुक्त) हैं, फिर भी वह अपनी दैवी माया से शरीर धारण करते हैं (देहवान् जात), क्यों ? स्पष्ट है (लक्ष्यते), लोक-प्रेम के वशीभूत होकर। स्वप्रयोजनाभावेऽपि—इसमें उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं था। भूतानुजिघृक्षया—भूतानुग्रहेच्छया, उनका हृदय तो प्राणि-मात्र के लिए एक-सा पसीज उठा था। जिघृक्षा (ग्रह्+सन्+आ)=ग्रहीतुम् इच्छा। **वैदिक उपदिदेश**—तब उन्होंने

कुरुक्षेत्र की रण-भूमि में शोक-मोह के महासागर में डूबे अर्जुन के प्रति इस प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप वैदिक धर्मका उपदेश दिया था। गुणाधिकैः···गमिष्यति इति—उन्होंने सोचा कि जब (अर्जुन-सरीखे) गुणी जन इस धर्म को अपनाकर इसे जीवन में उतारेंगे (अनुष्ठीयमानः), तब स्वभावतः इससे धर्म का प्रचार (प्रचय) स्वयमेव होता चलेगा। उपनिवन्ध—उप+नि+वन्ध्, लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

निःश्रेयसं···भवति—(यदि मनुष्य के लौकिक अभ्युदय का रास्ता प्रवृत्ति है, तो) पारलौकिक कल्याण (निःश्रेयस) का मार्ग निवृत्ति है—निवृत्ति अर्थात् सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग (संन्यास) करने से उपलब्ध हुआ आत्म-बोध (आत्म-ज्ञान)। तथा इमम् एव ··· उक्तम्—धर्म के इसी स्वरूप को हम गीता का धर्म कह सकते हैं, और जैसा कि स्वयं भगवान् ने 'अनुगीता' में कहा है—[पृ० ६७] स हि··· वेदनम्—आत्मबोध ही धर्म का अपने-आपमें पूर्ण लक्षण है, इसीके द्वारा ब्राह्मी स्थिति (ब्रह्मणः पदवेदनम्, ब्रह्मपदस्य वेदनम् आप्तिः उपलब्धिः) को प्राप्त किया जाता है। कि च इति—'अनुगीता' में ही पुनः कहा गया है कि जो पुरुष संसार से निरासक्त होकर (किञ्चित् अचिन्तयन्) मौनपूर्वक एक ही आसन से (अन्तर्मुख हो) बैठ जाता है, उस पर धार्मिक-अधार्मिक, शुभ-अशुभ आदि विशेषण लागू नहीं होते। ज्ञानं संन्यासलक्षणम्—(संन्यास का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य निठल्ला हो-कर बैठ जाए), आत्म-बोध की परम स्थिति का ही दूसरा नाम संन्यास है। इह अपि · व्रज—गीता में भी उपदेश के अन्त मे श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—यदि कल्याण चाहते हो तो (विविध) धर्मों के पचड़े को छोड़ मेरी शरण में आ जाओ।

अभ्युदयार्थः··· वर्जितः—(निःश्रेयस एवं निवृत्ति के बारे में हम कह चुके) अब अभ्युदय एवं प्रवृत्ति के विषय में कहा जाता है। सामान्यतः अभ्युदय अथवा प्रवृत्ति का मार्ग वर्णाश्रम-व्यवस्था के लिए विहित है। यही नहीं, इससे मनुष्य देवत्व भी प्राप्त कर सकता है। इस

पर भी हर कार्य यदि ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण की बुद्धि से किया जाए, फल की आकांक्षा मन को छू भी न जाए (फलाभिसन्धि-वर्जन) तो उससे अन्तःकरण की शुद्धि (सत्त्वशुद्धि) भी स्वतः हो हो जाती है। शुद्धे प्रतिपद्यते—जिस मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो गया, उसमें आत्म-बोध की योग्यता हो नहीं, आत्म-बोध स्वतः पनप उठता है और इस प्रकार अभ्युदय एवं प्रवृत्ति का मार्ग भी निःश्रेयस एवं निवृत्ति में परिणत हो जाता है। यथा वदति—इसी को लक्ष्य करके (अभिप्राय) गीता में कहा गया है। ब्रह्मणि आधाय आत्म-शुद्धये—योगीजन सर्वप्रथम मन और इन्द्रियों को वश में करते हैं और फिर ईश्वर के प्रति समर्पण-भाव से (ब्रह्मणि आधाय), सर्वथा निःस्वार्थ होकर (सङ्गं त्यक्त्वा), कामकाज में जुट जाते हैं। उनका ध्येय एक ही रहता है—आत्म-शुद्धि।

१६—पितृवत् परकन्यासु

स्वर्गीय पण्डित अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९००) के सुप्रसिद्ध-संस्कृत-उपन्यास 'शिवराजविजय' से लिये गए प्रस्तुत अंश में शिवाजी और औरंगजेब की पुत्री रोशनारा का रोचक संवाद अंकित है। औरंगजेब ने अपने पुत्र और पुत्री के साथ एक विशाल वाहिनी 'पार्वतोन्दुर' (पहाड़ी चूहे) शिवाजी का काम तमाम करने के लिए भेजी थी। पर उसे लेने-के-देने पड़ गए। शाहजादा और शाहजादी दोनों मराठों की कैद में पड़ गए। पर शिवाजी ने उनके प्रति शिष्ट और उदार व्यवहार किया। क्या आश्चर्य यदि इस 'लुण्ठकगण के परिवृढ' के प्रति वह मुगल-शाहजादी आकर्षित हो जाए। लेकिन छत्रपति ने उसके प्रति 'पितृवत् परकन्यासु', पराई लड़कियों के प्रति पिता का-सा ही आचरण किया।

श्री अम्बिकादत्त व्यास की भाषा प्रासादिक और प्रवाहपूर्ण है। उनके संवाद स्वाभाविक और रोचक बन पड़े हैं। 'शिवराजविजय' में ऐतिहासिक घटनाओं पर कल्पना का पुट चढ़ाकर एक हृदयग्राही कथानक प्रस्तुत किया गया है। उसमें कहीं-कहीं दण्डी और बाण की शैली की सफल अनुकृति पाई जाती है। प्रशंसकों ने उसके लेखक को 'अभिनव बाण' की भी उपाधि दी है'।

[पृ० ६७] वेधा०—अर्थात् विधाता ने जन दो प्रकार से उत्पन्न किया—स्त्रियों में और सोने में। दोनों में आसक्त न होनेवाला व्यक्ति मनुष्य-रूप में साक्षात् शंकर है।

रसनारी—रोशनारा (औरंगजेब की पुत्री) का संस्कृत-रूप। मुख्य वाक्य है—तोरणदुर्गे रसनारी न वेत्ति स्म। काभिः...सहिता—उन दासियों के साथ, जो प्रायः मूर्च्छितावस्था में उठाकर लाई गई थीं और फिर होश में आ गई थीं। आसन्दी—कुर्सी। पल्यङ्कः—पर्यङ्क, पलंग। वितानम्—चँदोवा। तूलिका—गद्दा। उपबर्हः—तकिया। परिच्छदः—रजाई। हर्म्यट्टालिका—महल की अटारी। अवरुद्धा—निगृहीता, कैद की हुई।'

'क्व आयाता—कहाँ से आई हूँ ? केन संयता (बद्धा, बन्दीकृता)—किसने मुझे बन्दी किया है ? किं भावि—(अत्र) क्या होगा ? [पृ० ६८] तत्परि...स्म—अर्थात् रसनारी की परिचर्या करने के लिए महाराष्ट्र प्रदेश की कुछ दासियाँ थीं, किन्तु वे भी रसनारी द्वारा अनेक प्रकार से ललचाए जाने पर भी (प्रलोभित), विनयपूर्वक (सप्रश्रयम्) पूछे जाने पर भी, उन प्रश्नों का कोई जवाब नहीं देती थीं।

आद्रियते—आदरं करोति। कस्य कक्षे आपतिता—किसके घर में आ पड़ी हूँ ? कः भनक्ति—कौन मेरी मर्यादा (सतीत्व) को अब तक भंग नहीं कर रहा है ? भनक्ति—भञ्ज्, लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

अथ०—वाक्य का सम्बन्ध इस प्रकार है—अथैकदा अट्टालिकायां पर्यटन्त्याः बहूनाम् इव पादध्वनिः अश्रावि, अर्थात् तब एक दिन अटारी

पर चहलकदमी करते हुए उसे बहुतों की-सी पैरों की ध्वनि सुनाई दी। अश्राव (श्रुता)—श्रु, लुङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन, कर्मवाच्य। षष्ठी में आए सारे शब्द शोभा से सम्बद्ध हैं। रसनारी अटारी से इन-इन वस्तुओं की शोभा निहार रही थी। अभ्रंलिहानाम्—अभ्रं मेघम् आकाशं वा लेढि आस्वादयति इति अभ्रंलिह, तेषाम् अत्युच्चानाम्। कोकानाम्—चक्रवाकाणाम्। कीराणाम्—शुकानाम्। कुरराणाम्—पक्षिविशेषाणाम्।

झटिति—त्वरितम्, शीघ्रता से। द्वारो०—दरवाजे के ऊपर के झरोखे से। ईषत् श्यामल—किञ्चित् कृष्णवर्ण। मरकत कमनीय—मरकतमय्यो महामालया समितेन मण्डितेन गलेन ग्रीवया कमनीयः मनोहरः, अर्थात् मरकत-मणि (पन्ने) के विशाल हार से उसका गला सुशोभित था। सम्बोभोत (अतिशयेन भवति)—सम्+भू+यङ् (क्रियासमभिहारे)। परिवृढ लुण्ठकगणस्य—लुटेरों का सरदार। क्षुभिता—व्याकुला। समविश (समवसत)—सम+विश्, लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

स्वोपवेशदेशम्—स्वोपासभूमिम्। स्विन्नाम्—पसीने से तर। गण्डस्थलीम् (कपोलपालिम्)—गाल। पटान्तेन—आँचल के छोर से। परिमार्ष्टि (प्रोञ्छति)—परि+मृज्, लट्, प्रथमपुरुष एकवचन, पोंछा। प्रतिसीराम् (यवनिकाम्)—पर्दे को। उत्क्षिप्य (उत्थाप्य)—उठाकर। शिरो विदधत्—सिर झुकाकर नमस्कार द्वारा शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए वही वीरवर दिखाई पड़ा। इयम्=रसनारी। आदरेङ्गितैः—आदरसूचकचेष्टाभिः। तद्वचन कर्णाभ्याम्—रसनारी के कान जैसे उसकी वचन-रूपी अमृत धारा को पीने के लिए उत्सुक थे। परमैक नयनाभ्याम्—अत्यन्त एकाग्रता (एकतानता) के कारण मानो जडीभूत बने नेत्रों से। चित्रार्पिता इव—चित्रलिखिता इव, चित्रलिखी-सी जान पड़ती थी। बद्धकरसम्पुट—कृताञ्जलि, हाथ जोड़े हुए। [illegible] च बिन्दुम् अपि अच्युत्—अर्थात् उनके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। तदाकार मोहिता—उसकी आकृति, सज्जनता, सुन्दरता, गम्भीरता, शिष्टाचार आदि से मुग्ध।

इयम् आसन्दी समाध्यताम्—अर्थात् इस आसन पर विराजिए। यह उक्ति आगन्तुक के प्रति वक्ता का अतिशय आदर प्रकट करती है। **आज्ञाप्यते**—आदिश्यते। यह उक्ति भी अतिशय विनम्रता की सूचक है। [पृ० ६९] **सार्धहस्तोच्छ्रायायाः**—जिसकी ऊँचाई (उच्छ्रायः) डेढ़ हाथ थी, अर्धेन सह विद्यमानः हस्तः, अर्थात् सार्धकः हस्तः औन्नत्यं यस्याः तस्याः (पीठिका का विशेषण)। **सजल**''**मध्यायाः**—जिसके बीच में जल-सहित (फूलदानों में) पुष्प-गुच्छ (गुलदस्ते) रखे हुए थे। **वर्तुलपीठिका**—गोलाकृतिकाष्ठपीठिका, गोल मेज। **प्राक् प्रत्यक्**—पूर्व-पश्चिम। **उपाविक्षताम्** (आसिषाताम्)—उप+विश्, लुङ्, प्रथमपुरुष द्विवचन, बैठ गए।

निजधन्यवादभाजनम्—अपने धन्यवाद के पात्र को। **मान्यतमा-स्यम्**—अत्यन्तादरणीयम्। **आस्वादम् आस्वादम्**—खाते-खाते। **केकि-केकाः**—मोरों की बोलियाँ। **श्रावं श्रावम्**—सुनकर-सुनकर। **दर्श दर्शम्**—दृष्ट्वा दृष्ट्वा। **उपत्यकाशाड्वलेषु**—उपत्यका (पहाड़ की तलहटी) के हरे-भरे मैदानों में। **शम्बरः**—मृगविशेषः। **शल्लकी**—साही। **शशकः**—खरगोश। **शिवा**—लोमड़ी। **दिनानि गमयामि**—दिन बिता रही हूँ; निरर्थं यापयामि कालम्, इति भाव.।

कर्ण०—अर्थात् क्या श्रीमती ने शिवराज नाम के किसी मराठा वीर का नाम सुना है? **कर्णशष्कुलीम्**—श्रोत्ररन्ध्रम्। **अस्पार्क्षीत्**—स्पृश्, लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन। **पार्वतोन्दुरः**—पहाड़ी चूहा। **वराकाः**—दुष्टाः। **आख्यान्ति**—कथयन्ति। **ह्रीणः**—लज्जितः। **सभ्यम्**—मुग्धतापूर्वक, भोलेपन से।

मर्म—रहस्यम्। **श्रीमत्याः तातचरणैः**—आपके पूज्य पिताजी से। **कदर्थानि**—अतिनिन्दनीय। **दग्धहृदयाः**—जल-भुनकर। **प्रचक्षते** (कथयन्ति)—प्र+ख्या, लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन। **विलोप्यन्ते**—नष्ट कर दिए जाते हैं। [पृ० ७०] **बाष्पपयःसन्दोहैः**—आँसुओं की धाराओं से। **क्षालयन्तः**—धोते हुए। **धमद्**''**वक्षसः**—(भय के कारण) तेजी से

धड़कती हुई नाड़ियों में दौड़ती रुधिर-धारा से उनके चेहरे डरावने पड़ गए हैं। हस्तौ उन्नमय्य—हाथ उठाकर। उच्छेदाय शपन्ते—समूल नष्ट हो जाने के लिए शाप देते हैं। आशिरासीन्—ढेरों आशीर्वाद।

मोदन्ते—प्रसन्नताम् अनुभवन्ति। उद्टङ्कनम्—प्रकटीकरणम्, जाति, नाम आदि प्रकट करना आवश्यक नहीं। तत०—तब फिर मेरा अपहरण क्यों किया गया? विश्वम्भरा—धरती, युद्ध में प्रचुर रक्त-धाराओं से पृथ्वी देवी को नहलाया जा चुका है। बहवश्च०—युद्ध में मारे गए वीरों की अनेक स्त्रियाँ रुलाई जा चुकी हैं। सन्धातुम्—अर्थात् आपके जरिए आपके पिता से सन्धि की जा सके, उसका यत्न करने के लिए (आपको यहाँ लाया गया है)। मौद्गल—मुगल। साध्वसम्—भीति। यत्र हेल्यन्ते—युवकों के चित्त को आकर्षित करने वाले अति मधुर यौवन से संयुक्त (आलिङ्गित) होने पर भी (अर्थात् नवयुवती होने पर भी) तथा मानो लावण्य के सारभूत तत्त्व से निर्मित होने पर भी (अत्यन्त रूपवती होने पर भी) शत्रु-कन्याओं का जहाँ आदर किया जाता है, न कि निरादर। युवजनमनोमोहनेन—तरुणहृदयाकर्षकेण। कौमारात् परेण वयसा—तारुण्येन। आलिङ्गिता—आश्लिष्टा, नवयुवत्य इत्यर्थः। सौन्दर्यसारविरचिता—लावण्यतत्त्वनिर्मिता। दुहितर—कन्यका। प्रवहेल्यन्ते—तिरस्क्रियन्ते। अत्र०—इस विषय में स्वयं आप प्रमाण हैं, अतः न पौनरुक्त्यम्।

अपाङ्ग तारकेण—अपाङ्गे नेत्रप्रान्ते क्षिप्ता प्रेरिता लोला चञ्चला तारका कनीनिका यस्य तेन लोचनेन नयनेन, चञ्चल नेत्रों की कोरों से। असकृत्—अनेकवारम्। ईक्षमाणा—अवलोकयन्ती। उरोजयोः क्षिप्त्वा—स्तनों पर से खिसकते वस्त्र को पुनः कन्धों पर फेंककर। इससे रसनारी की शिवाजी के प्रति आसक्ति सूचित होती है। मोदितसकलसमाज—मोदित प्रसन्नीकृत सकल समस्त समाज जनसमूह येन स, जिसने सारे समाज को प्रसन्न कर दिया है। दिदृक्षते—द्रष्टुम् इच्छति, दृश्+सन्, लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

[पृ० ७१] यो माम् सज्जयते—जो मुझ धृष्टता से बातें करनेवाली

को विनम्र और मनोहर शब्दों से इस प्रकार लज्जित कर रहे हैं। नम्रालापैः—कोमलभाषणैः। यत्०—जो आप शत्रु के प्रति भी आदर प्रकट करने में प्रयत्नशील है।

१७—वृक्षाणां परिषत्

प्रस्तुत अवतरण में वृक्षों के मुँह से, वनस्पति-वर्ग के दृष्टिकोण से, मनुष्यों की आलोचना की गई है। महावन के एक निर्जन प्राङ्गण में पादपों की संसद् हो रही है, जिसमें पधारे हुए हैं पुराने जटा-जूटवाले पितामहकल्प-नीय महावृक्ष और ललित भंगिमावाली लता-ललनाएँ। सम्मेलन के सभापति अश्वत्थदेव (पीपल महाराज) हैं, जो अपनी वक्तृता में एक के बाद एक तर्क देकर यह सिद्ध कर रहे हैं कि ईश्वर की अन्यथा सर्वाङ्गसुन्दर सृष्टि में मानव ही एक भद्दा धब्बा है। श्रोतागण बीच-बीच में शाखा-घर्षण आदि द्वारा यथावसर करतल-घोष करते, व्यंग्यपूर्ण हँसी हँसते और हर्ष प्रकट करते हैं। सारा उद्धरण व्यङ्ग्योक्तियों और आक्षेपों से परिपूर्ण है। पं० हृषी-केश शास्त्री भट्टाचार्य (१८५०–१९१३) की शैली सरस और प्राञ्जल है तथा ऐसी ताजगी और नवीनता लिये हुए है, जो 'मूकयति वदनविवरं मृतभाषावादिनां मूढेराणाम्', संस्कृत को मृत भाषा कहने की धृष्टता करनेवालों का मुँह बन्द कर देती है।

[पृ० ७१] सञ्चालितपल्लवकराग्रः—पत्ते-रूपी हाथ के अग्रभाग को हिलाकर। वनस्पतिकुलप्रदीपाः—वनस्पतियों के कुल-दीपक। कुसुम-कोमलदन्तरुचः—पुष्प के समान (अथवा, पुष्प-रूपी) कोमल दाँतों की चमकवाली। तुलना कीजिए—'श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमल-दन्तरुचो बभुः। उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥' रघुवंश ९।३५। लताकुलललनाः—लताओं के वंश में उत्पन्न होनेवाली

स्त्रियो, अथवा, लता-रूपी कुलवधुओं । सावहिता —ध्यानपूर्वक । अद्य विषय —आज की सभा का विचारणीय विषय मनुष्यों की चर्चा करना है । निकृष्टतमा —सबसे अधिक नीच । समन्तात् एव अपहारितम्— विश्व के स्रष्टा भगवान् ब्रह्मा ने चारों ओर इस नवीन एवं आश्चर्यकारी संसार की रचना करके जो बुद्धि-उत्कर्ष और रचना-नैपुण्य दिखाया, वह मनुष्यों की सृष्टि करके एकदम नष्ट कर दिया ।

[पृ० ७२] प्राक्तनकर्मप्रभावात् —पूर्वजन्म के कर्मों के प्रभाव से अथवा भाग्यवश । 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते ।' जडत्वम् आपन्नानाम्— जड़ता को प्राप्त हुए । अस्माकं वार्ता तावदस्तु दूरे—हम लोगों की बात छोड़िए । जीवसृष्टिप्रवाहेषु —संसार के सभी प्राणियों की परम्परा में । परप्रतारका —दूसरों का धोखा देनेवाले । मायाविन —छली । हिंस्रस्वभावतया प्रसिद्धान्—हिंसक वृत्ति के लिए प्रसिद्ध । नित्य कलापान्— दैनिक और विशिष्ट कार्यादि । याथातथ्येन—वस्तुतः । किमेते गरिष्ठा— क्या ये हिंसक पशु-हिंसा आदि कर्मों में मनुष्यों से भी बढ़े-चढ़े हैं ? गरिष्ठा. (गुरु+इष्ठन्) =गुरुतमा । प्रकृतिनियमो प्रयोजनकम्—प्राकृतिक नियमों से प्रज्वलित होनेवाली पेट की अग्नि (भूख) की शान्ति के लिए ही है । क्रूर अवसानानि—और उनके क्रूर कर्म पेट भर जाने पर समाप्त हो जाते हैं । सकृद् पूर्तौ —एक बार पेट भर जाने पर । करतलगतान्— हाथ में आये हुए । न वा तथाविधि परिभ्रमन्ति—और न वे उस तरह के दुर्बल जीवों को मारने के लिए जंगल-जंगल घूमते हैं । समुद्धतम् (सम्+उत्+हत)—उद्यम के साथ (समुद्धतं यथा स्यात् तथा) । प्रत्युत—बल्कि । मुनि विश्राम्यन्ति—ऋषि-मुनियों के आचरण की भाँति शान्त होकर एकान्त (विविक्त) और निर्जन स्थान में जाकर विश्राम करते हैं ।

निरवधि —सीमा-रहित । आक्रीडनम्—खेल, विनोद । विश्रान्तचित्तविनोदाय—थके हुए चित्त का अनुरंजन करने के लिए । मृगयाम् अपदिश्य—शिकार के बहाने से । हिंसावृत्ते चरितार्थतां सम्पादयन्ति—

अपनी हिंस्र मनोवृत्ति को चरितार्थ करते हैं, कार्य-रूप में परिणत करते हैं। **मनुष्यालयं प्रविश्य**—मनुष्यों की वस्ती में जाकर। **समनुतिष्ठन्ति**—करते हैं। **ऐहिकसुखलिप्सया**—सांसारिक सुख पाने की लालसा से। **समुत्साहेन**—बड़े उत्साह से। **पारत्रिकप्राप्त्याशया**—परलोक का शाश्वत (नित्य) एवं विशुद्ध (दुःखादि से अमिश्रित) सुख पाने की आशा से। [पृ० ७३] **आसन्न ··कलेवरान्**—जिनके शरीर बिलकुल निकट आई हुई मृत्यु के डर से काँप रहे हैं। **उपहत्य**—मारकर। **स्वहृदयस्य॰**—अपने हृदय की अत्यन्त कठोर क्रूरता का। **विदीर्यते**—फट जाता है।

भक्ष्यनियम—भोजन-सम्बन्धी नियम। **अनायाससाध्या**—सहज ही पूरी की जा सकनेवाली। **स्वोदर·· समधिगत्य**—पेट भरने लायक खाने की वस्तु पाकर ही। **परितुप्तिम्**—सन्तोष। **अन्यत्र विषयेषु अपि**—और बातों में भी। **तृप्तियोगः**—सन्तोष-लाभ। **भागधेयेषु**—भाग्य में। **अभिलिषित्सवः** (अभि+वि+षा+सन्+उ)—(प्राप्त) करने की इच्छा करने वाले। **अव्याहत ··हृदयाः**—निर्बाध लोभ से जिनका हृदय विक्षुब्ध (परेशान) रहता है। **मनुजन्मानः**—मनुष्य। **सर्वात्मना प्रवर्तन्ते**—हर प्रकार से लग जाते हैं। **न धर्मम् अनुधावन्ति**—धर्म का पालन नहीं करते। **न सत्यम् अनुरुन्धन्ति**—सत्य का आग्रह नहीं करते। **तृणवत्॰**—स्नेह की तिनके-जैसी उपेक्षा करते हैं। **लोष्टवत्॰**—पवित्रता का कंकड़-पत्थर की तरह परित्याग कर देते हैं। **अहितमिव॰**—सरलता से वैसे ही बचते हैं जैसे शत्रु से। **अमङ्गलमिव॰**—विश्वास की वैसे ही हत्या करते हैं जैसे अमंगल वस्तुओं की। **पापाचारेभ्यः**—पापाचरण से। **अनृतव्यवहारात्**··असत्य व्यवहार से। **नहि···पीडनात्**—क्षणभर के लिए भी दूसरों को कष्ट देने से विरत नहीं होते। **न वा · अकृत्यात्**—बुरे-से-बुरा काम करने से भी मुँह नहीं मोड़ते। **सिसाधयिषन्ति**—साध्+णिच्+सन्, लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन, साधने की इच्छा करते हैं। **यथा ··यथैव॰**—ज्यों-ज्यों इनकी स्वार्थ-सिद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों इनकी विषयों की प्यास अधिकाधिक बढ़ती जाती है।

एते—मनुष्या । निकृष्टा —अधम, नीच । निस्सारा —व्यर्थ, बेकार । प्रबल पर्यन्तम्—प्रबल आँधी आने के ठीक पहले तक, प्रबलवात्याया उद्गमस्य अव्यवहित पूर्वक्षण यावत् । विचलन्ति—हिलते-डुलते हैं । निर्भीकानि इव—जैसे निडर होकर । अविशङ्कितचित्तानि इव—जैसे निःशङ्क-चित्त होकर । सर्वथा अवतिष्ठन्ते- दृढ होकर जमे रहते हैं । [पृ० ७४] स्वशक्तित —अपनी पूरी ताकत लगाकर । सम्मुख पुरुषा इव—संग्राम में सामने खड़े वीरों की तरह । सुदूर आकलय्य—सुदूर भविष्य में आ पड़नेवाली किसी विपत्ति की कल्पना कर के । परिकम्पमान-कलेवरा —कांपते हुए शरीर से । निरन्तर हृदया —जिनका हृदय सदा भारी चिन्ताओं में पीडित रहता है । दु ख वाहयन्ति—बड़े कष्ट से समय बिताते हैं । परिकल्पयन्ति प्रतीकारोपायान्—व्याकुल हो बड़े परिश्रम से विपत्ति के मुकाबले के लिए उपाय करते हैं । येन अतिक्रान्तम् एव—जिससे मनुष्य-जीवन में शान्ति-सुख कभी प्राप्त नहीं होता (इच्छा-पूर्ति के मार्ग से दूर ही रहता है) । भवितव्य तया—भवितव्यता (भावी) के अनिवार्य होने के कारण । दुर्लङ्घ्यतया च नियतिनियमानाम्—भाग्य के नियमों के अटल होने के कारण । एकपदे एव—अचानक ही । अन्तर्धत्ते विद्यावत्ताभिमान —विद्या का गर्व लुप्त हो जाता है । क्वापि गर्व —तीक्ष्ण बुद्धि-चातुर्य से उत्पन्न होनेवाला गर्व नष्ट हो जाता है । प्रलीयते अहङ्कार —अपने को सर्वज्ञ मानने से होनेवाला अभिमान लुप्त हो जाता है । समुद्रति—उत्पन्न होना है । कोऽपि हृदयावसाद —किंकर्तव्यविमूढता से होनेवाली खिन्नता हृदय पर छा जाती है । भ्रश बुद्धि —चिरकाल से परिपुष्ट हुई नास्तिकता बिल्कुल नष्ट हो जाती है । सुदूरम् प्रतिद्वन्द्विता—ईश्वर से की जानेवाली होड बहुत दूर चली जाती है । आत्मत्राणाय—आत्मरक्षा के लिए । परित्यजन्ति आत्मभरताम्—हर प्रकार की आत्मनिर्भरता को छोड देते हैं । भवन्ति च०—भाव यह है—यों तो नियम यह है कि स्त्री-पुत्र-स्वजनों की सदा रक्षा करनी चाहिए, पर विपत्ति के समय वे इस नीति का अनुसरण करने लगते हैं कि 'सदा आत्मा

ही रक्षा करनी चाहिए, चाहे स्त्री से चाहे धन से, और केवल अपना बचाव करने के फेर में पड़े रहते हैं। किमतः परं वर्तते—मनुष्यों की असारता दिखाने में क्या इसके अतिरिक्त और किसी प्रमाण की आवश्यकता है ? अथ ये प्रकटयति—इस प्रकार जब विश्व-विधाता ब्रह्मा ने तृणादि की सृष्टि रचकर मनुष्यों-जैसे जीवों की रचना की, जो तिनकों से भी गए-गुजरे और पशुओं से भी नीचे हैं, तब यह बात ब्रह्मा के बुद्धि के उत्कर्ष को कहाँ तक सिद्ध करती है ?

[पृ० ७५] हेतुप्रमाणपुरस्सरम्—हेतुभिः प्रमाणैश्च पुरस्सृतं (युक्तम्) यथा स्यात् तथा, तर्क और प्रमाणपूर्वक। विभावयन्तः—चिन्तयन्तः।

१८—क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते

पण्डिता क्षमाराव (१८९०-१९५४) उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध संस्कृत-विद्वान् श्री शंकर पाण्डुरंग पण्डित की पुत्री थीं। वह कई वर्षों तक यूरोप में भी रहीं। संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं की भी वह अच्छी जानकार थीं। उन्होंने संस्कृत गद्य और पद्य दोनों में आधुनिक विषयों पर सुन्दर रचनाएँ की हैं। उनकी 'सत्याग्रह-गीता' पेरिस से १९३२ में प्रकाशित हुई थी, जिसमें महात्मा गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन के मार्मिक स्पन्दनों को काव्य के सुकुमार तन्तुओं में बाँधा गया है। उनकी 'उत्तर सत्याग्रह-गीता' (बम्बई, १९४८) गांधी-गाथा को १९४४ तक ले आती है। उन्होंने मराठी के तीन सन्तों—तुकाराम, रामदास और ज्ञानेश्वर—तथा अपने पिता की जीवनी को काव्य का परिधान पहनाया है। उनकी अन्य उल्लेखनीय काव्य-कृतियाँ ये है—'कथापञ्चकम्' (बम्बई, १९३४), 'विचित्र-परिषद्-यात्रा' (बम्बई, १९३६), 'मीरा-लहरी' (बम्बई, १९४४), तथा 'ग्रामज्योति' (कलकत्ता, १९५४)। 'कथामुक्तावली' (बम्बई, १९५५),

जिनमें से प्रस्तुत कथा ली गई है, उनकी पन्द्रह गद्य-कहानियों का संग्रह है। उन्होंने कई नाटक भी लिखे, पर वे अभी अप्रकाशित हैं।

आलोचकों ने पण्डिता क्षमाराव की प्रतिभा की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे के मतानुसार उनकी सारी रचनाओं में 'सरल और अलंकृत भाषा, चुने हुए शब्दों का प्रयोग, छन्द-कौशल, नाना अलङ्कारों का उपयोग, विशद वर्णन तथा उच्च स्तर का काव्य-गुण' परिलक्षित होते हैं।

प्रस्तुत कथा एक ऐसी युवती की कहानी है, जो अपने पति की खोज में अकेली निकल पड़ती है। करुणा, रहस्य, संयोग तथा आश्चर्य का पुट कथा को अतीव रोचक बना देता है।

[पृ० ७५] आयास = परिश्रम। अवसितप्राय — लगभग बीत चुका था। मणिमयगिरिमेखलायां — मणिमयनाम्न गिरेः मेखलायां, मेखला = आँचल। गाँव का नाम किष्टिवार था। विविक्ते = एकान्ते। वरीदृश्यते — दृश् + यङ्, लट्, पौनःपुन्येन दृश्यते, स्पष्ट दिखाई देती है। कारवाहीगुल्मेषु अन्तर्हित — कारवाही की झाड़ियों में छिपा हुआ। नेदीयस — निकट + ईयस्, षष्ठी एकवचन, पास के। परःशतपादायतस्य — जिसकी तलहटियाँ (पाद) सौ से भी अधिक थीं। प्रतिबध्नत — प्रति + बध् + शतृ, द्वितीया एकवचन, रोक रहे। खण्डीकुर्वन् — टुकड़े करते हुए। फेननिकरोद्गारभासुर — फेन-समूह के निकलने से चमकदार। [पृ० ७६] निर्झरझर्झरनिनादेन — झरने की झर-झर आवाज से। दिगन्तम् आपूरयन् इव — अन्तराल (दिगन्त) को भरता हुआ। नाना विडम्बिभिः — पर्वत की दोनों बाजुएँ नाना प्रकार की ऐसी पुष्पित जंगली झाड़ियों से छाई हुई थीं, जो नन्दन-वन की मनोहरता की विडम्बना (उपहास, तुलना) कर रही थीं। समाहिता इव — समाधिस्थ-सी, हक्की-बक्की, आत्म-विस्मृत-सी।

तारस्वरेण — ऊँचे स्वर से। तापसस्य श्रीनगरवासिनः — श्रीनगर-निवासी किसी तपस्वी ज्योतिषी ने हिमा के पति के विषय में यह भविष्यद्वाणी की थी कि उसका पता अमरनाथ-गुफा में लगेगा। निमित्तज्ञ — ज्योतिषी।

धर्मकञ्चुकी—धर्म की केंचुल पहने हुए; ढोंगी। निश्चिनोमि—मुझे निश्चय होता है कि यह ज्योतिषी ढोंगी है।

अम्बुजः – यह हिमा के पति का नाम था। संकेतस्थानम् उद्दिश्य—मिलने के स्थान के विषय में। वृत्तोपलब्ध्यै—समाचार पाने के लिए। तत्सविधे—उसके पास। तस्य=अम्बुजस्य। परिभ्रमणसक्तः—पर्यटन के शौक में पड़कर। अमरनाथयात्राबद्धादरः—अमरनाथ की यात्रा में श्रद्धा रखकर। अनवरतः वर्षन्ती—आँखों से निरन्तर आँसू बहाती हुई। शोकानलेन प्लुष्टा (दग्धा) इव—शोकाग्नि से मानो जलकर। स्वशिशुं प्राहिताम्बुजनामकम्—अपने पुत्र को, जिसका नामकरण अम्बुज किया गया था। तदानीम् एकाब्ददेशीयम्—जो उस समय एक वर्ष के लगभग था।

चिरात् तिरोहितस्य—दीर्घकाल से आँखों से ओझल हुए। पितुः अन्वेषणैकधिया—एक-मात्र पिता को खोजने की नीयत से। अम्बुज के पिता का बहुत दिनों से पता नहीं चलता था। उन्हीं की खोज में अम्बुज घर से निकल पड़ा था। अति शिलायिते—अत्यधिक सर्दी से हम दोनों (ठिठुरकर) जब तक पथरा नहीं जाते। शिलायते—शिलेव जडीभूते। [पृ० ७७] असकृद्—अनेक बार। अलं निषेधवचोभिः—बस, मुझे रोको मत।

अधित्यका=पहाड़ी चोटी; उपत्यका=तलहटी। प्रगल्भाः—साहसी। पर्यन्ते—दूर सामने। पिसुनाम्नः शैलस्य उत्सङ्गे—पिसु नामक पहाड़ की गोद में। स्मयमान अवलोकयन्ती—झिलमिलाते हुए अथवा पुष्पित शेषनाग सरोवर को देखती हुई। बृहद् अक्षोट्टद्रुमस्य अधः ध्यायन्तम्—अखरोट के बड़े वृक्ष के नीचे ध्यान में लीन। प्रदोषस्य एधमानान्धकारे—सन्ध्या के बढ़ते अन्धकार में। एधमान—एध्+शानच्; वर्धमान। निष्प्रभ घनीभूते (अन्धकारे)—ज्योतिहीन पर्वत की नील एवं लोहित छायाओं से घनतर हुए (अन्धकार में)। प्रवयाः—बड़ी वयस् वाले, बूढ़े। वलितपीतवर्णास्यः—जिनके मुँह पर झुर्रियाँ और पीलापन है। आनाभि०—नाभिपर्यन्तं विलम्बमानः सितः सान्द्रः

कूर्च यस्य स, जिनकी सफेद घनी दाढ़ी नाभि-स्थल तक लम्बमान थी। भस्मधूलि०—जिनकी जटाएँ राख से पुती (धूल वाली लिये) थीं। अशिथिल०—जिनका शरीर झुका हुआ (कुञ्चित) अवश्य था, किन्तु शिथिल नहीं। दाक्षिण्याङ्कितललाट—जिनके मस्तक पर स्पष्ट उदारता का भाव अंकित था। श्रद्धयेव स्नातशरीर—श्रद्धा में मानो जिनकी देह डूबी हुई थी। भ्रूमध्य०—जिन्होंने भौंहों के बीच दृष्टि स्थिर कर रखी थी। पुरातनकालप्रतीक इव समुल्लसन्—प्राचीन समय के प्रतीक की तरह विराजमान थे।

आयतद्योतमान नयनयुगलम् उन्मील्य—बड़ी-बड़ी चमकदार आँखों को खोलते हुए। अन्वयुङ्क्त—अनु+युज्, लङ्, पूछा। प्रतिपन्नम्—स्वीकृतम्। अनुयुक्तया—पूछी गई, पूछे जाने पर। [पृ० ७८] स्खलिताक्षरै—टूटी-फूटी जबान में। चिरात् वार्ताम्—चिरकाल से खोये हुए पति की कहानी। यात्रानिमित्तम्—(अपने) यात्रा-हेतु को। निम्नपटलाम्—नीची छतवाली (कुटी को)। दोलायमानमानसा—जिसका मन डाँवाडोल था। दोलायमान—दोला इव आचरन्, दोला (नामधातु) +शानच्। समादरम्—आदरपूर्वक। अभाविष्ट—भाष्, लुङ्। आप्रात—प्रातःकालपर्यन्तम्। आस्तरणम् आस्तीर्य—चादर (दरी, चटाई) बिछाकर। आनिशीथम्—आधी रात तक।

गवाक्षान्त०—झरोखे से अन्दर आ रही चन्द्रमा की किरणें जिसका मुँह मानो चूम रही थीं। कौमुदी आलोकयन्ती—दूध के समान चिट्टी चाँदनी के प्रवाह से स्वच्छ बने जगत को देखती हुई। मरकतनीले—नीलम के रंग के। रजन्या आसीत्—रात्रि की ध्यानावस्थित मुद्रा उसमें प्रतिबिम्बित हो रही थी। आलोकस्य पराधीनतया—उस अत्यन्त अद्भुत एवं रमणीय प्रकाश के सर्वथा वश होकर। तस्याः विचारसरण्या समापतत् स्मरणम्—उसकी विचार-धारा में स्मृति जाग उठी। सम्+आ+पत्, लङ्। स्वभर्तृ०—घर की उस समय को याद, जब उसके पति ने घर नहीं छोड़ा था। आत्मीय०—अपने अल्पकालीन वैवा-

हिक जीवन का। अब्दपञ्चकतः पूर्वम्—पाँच वर्ष पूर्व। संवृत्त—घटित। मन्दिरात्—गेहाद्। दूरस्था०—उसे लगा जैसे उसने दूर चोटी से अपने पति के स्वर की गूँज सुनी। व्यभावयत्—उसे लगा। शीतशीतोषःकाले—अत्यन्त शीतल उष काल में। पूर्वेद्युः इव—पहले (पिछले) दिन की भाँति। अन्तरायः—विक्षेप, विघ्न। वलिता ''आविरभूत्—उनके झुर्रियोंवाले चेहरे पर मन्द मुसकान झलक उठी। कृतज्ञताभरपुरस्सरम् आपृच्छ्यमानाम्—जो कृतज्ञतापूर्वक जाने की अनुमति माँग रही थी।

[पृ० ७९] नानाविध०—तरह-तरह की अद्‌भुत भावनाओं तथा भंगिमाओं के प्रवाह से जिसका हृदय पूर्ण था। अन्तिकम्—समीपम्। सम्प्राप—सम्+प्र+आप्, लिट्। विशालस्थल्याम्—लम्बे-चौड़े मैदान में। यात्रिकजनार्णवः—यात्रियों का समुद्र। शतशः परिणतवयस्काः—सैकड़ों बूढ़े। कुघटिताङ्गयष्टयः—टूटे-फूटे अंगोंवाले। परःसहस्राणाम्—हजारों-लाखों की संख्या में। चिकीर्षुः—कर्तुम् इच्छुः। व्रातः—समूहः। जीर्णचीवरवेष्टिताङ्गः—फटे-पुराने चीथड़ों में शरीर को लपेटे हुए।

बधिरी''क्रान्तम्—कानों को बहरा कर देनेवाले शोर से भयभीत (कपोतवृन्द)। युगपत्—एक साथ। अनेकरन्ध्रेभ्यः—कई दरों से। कपोतवृन्दम्—कबूतरों का झुंड। समुड्डिये—सम्+उत्+डीङ्, लिट्। ज्वलद्धूपसौरभजातम्—जलती हुई धूप की तरह-तरह की खुशबू। बहुतिथं कालम्—लम्बी अवधि तक। देवा हि०—देवता भी सहन नहीं कर सकते कि यौवन योंही बरबाद जाए। जोषम्—तूष्णीम्, चुपचाप।

[पृ० ८०] शव हिमशिलाम्—शव रखने के बक्से के आकार की एक बड़ी शिला के निकट। समुपेतवन्तौ—पहुँचे। तुषार निर्दिश्य—वर्फ के ढेर को अपनी उँगली से दिखाकर। अवसन्नगात्री—जिसके अंग-प्रत्यंग सुन्न हो गए थे। हिम निवेशितम्—वर्फ की दो सिल्लियों में जकड़ा हुआ। स्मेराननः—मुसकराते हुए। झटिति प्रमृज्य—तुरन्त उसने अपने मस्तक पर शोभायमान सौभाग्य-चिह्न केसर को कमल-पुट (उदर) के

समान (सोदर=भाई) हाथ से पोंछ डाला। हैमाच्छादनपटोपरि—मुर्दे पर पड़ी बर्फीली चादर पर। न्यधात्—नि+धा, लङ्। परिदेवमाना—रोती हुई। शोक निक्षिप्ता इव—शोक-समुद्र की लहरों पर जैसे आ पड़ी हो। निर्जीवोपाङ्गम् इव—जिनकी उँगलियाँ, कलाई (उपाङ्ग) सुन्न पड़ गई हैं। आलम्बेताम्—आ+लम्ब्, लङ्। निःसत्त्वौ—सत्त्वशून्यौ।

प्राणिनां जीवनम्०—संसारी प्राणियों का जीवन जल के बुलबुलों की तरह क्षणिक होता है। निर्वाणं च अन्विष्य—शान्ति की खोज कर।

शीतशीतलहेमसमाधिगुहरात्—अत्यन्त शीतल बर्फीली समाधि-गुहा से। अद्राष्टाम्—दृश्, लुङ् प्रथमपुरुष द्विवचन। श्यामश्मश्रुलम्—काली मूँछोंवाले। चर्मकञ्चुकधारिणम्—चमड़े का कोट पहने। धृतलोमशिरस्कम्—रोएँवाली टोपी पहने। दीर्घ श्रान्तम्—लम्बे और कठिन पर्यटन से थके हुए। पान्थम्—बटोही को। मिथः—परस्पर। [पृष्ठ ८१] अध्वग—यात्री। स्थगिता इव—मानो गतिशून्य। स्वचक्षुषो०—अपनी आँखों पर जैसे विश्वास न करते हुए। पोट्टलिका—पोटली। अवाप्तपरमप्रमोदसन्दोह—खुशी से फूला न समाता हुआ। सोच्छलम्—उछलकर। व्यतिकरम्—घटित परिस्थिति। भ्रान्तभ्रान्ता—अत्यन्त भ्रान्ता। क्रियासमभिहारेण—एक ही वाक्य में, संक्षेप में। उपेतशवपीठिका—शव के आधान के निकट आकर। तातपादा—पिताजी। मोघीभूता—व्यर्थीकृता। विललास—सुशोभित हुई। प्रकामम्—पर्याप्तम्, प्रगाढम्। [पृ० ८२] निरन्तर इव—जैसे अटूट, निर्विघ्न निद्रा का सुख अनुभव करते हुए। कालहस्तेन अस्पृष्टम्—जिसे समय के हाथों ने छूआ तक नहीं, जो मरकर भी बदला-गला नहीं। प्रमोद-परिप्लुतौ—आनन्द के पारावार में डूबते-उतराते।

❷

गद्यकाराः प्रशस्यन्त आचार्यैरधिकारिभिः

वेद.

सरस्वती श्रुतिमहती महीयसाम् । कालिदासः

ब्राह्मणम्

ब्रह्म सत्यं विजानीयात् ब्राह्मणं ब्रह्मणः श्रुतम् ।
यथादृष्टानुवादित्वात् ब्राह्मणं ब्राह्मणं मतम् ॥

कात्यायनी

उपनिषद्

देहलीदीपकस्थित्या भासयन्ती भुवं दिवम् ।
मृत्युजीवनयोर्नित्यं स्वानुभावेन सान्त्वनम् ॥

सर्वोपनिषदोऽमृतम् । शूर्पणखारिः (शोपेनहावर)

कौटिल्यः

कुटिलमतिः स एष येन
क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्दवंशः । विशाखदत्तः

पतञ्जलिः

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥ 'यः कश्चित्'

चरक.

देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ।

श्रीहर्षः

आर्यशूर

आर्या, दिव्यावदानानि सोपानानीव सर्वथा ।
आरुह्य जातकानीत्य बुद्धत्वपदप्राप्तये ॥
सत्य शूरा भवन्तु वै । प्रियदर्शी

दण्डी

आचार्यदण्डिनो वाचामाचान्तामृतसम्पदाम् ।
विकासो वेधस पत्न्या विलासमणिदर्पणम् ॥ गंगादेवी

सुबन्धु

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रय ।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा ॥ कविराज

बाणभट्ट

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति ।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥
धर्मदास

शङ्कराचार्य

वादिव्रातगजेन्द्रदुर्मदघटादुर्गर्वसङ्कर्षण
श्रीमच्छङ्करदेशिकेन्द्रमृगराड् आयाति सर्वार्थवित् ।
दूर गच्छत वादिदुष्टगजा सन्यासदंष्ट्रायुधो
वेदान्तोरुवनाश्रयस्तदपर द्वैत वन भक्षति ॥

अम्बिकादत्तव्यास

मुहुरवतीर्णस्य भुवि विनाशाय नु दुष्कृताम् ।
शिवस्य स्तुतये वाणीमम्बा यस्मै ददौ स्वयम् ॥
व्यासाय नव्यसे नम । अरण्यानी

हृषीकेशशास्त्री भट्टाचार्य

मुद्रयति वदनविवर मृतभाषावादिनां मुहेराणाम् ।
स्मरयति च भट्टबाणं भट्टाचार्यस्य सा वाणी ॥
गिरिधरशर्मा चतुर्वेद

क्षमाराव

सत्यं स्पृष्ट्वा हृदयं स्नेहेनानाविलेन मातेव ।
अघ्न्याऽहिंसाऽदितिर्वत्सं भारतं बिभ्रती क्षमा ॥

युगं जज्ञे सरस्वती । प्रभास्वती

कण्ठस्थेयाः सदुक्तयः[1]

अचेतनानामपि मैत्री समुचितपक्षे निक्षिप्ता ।

अतिशीतलः पतिशोकानलादक्षयस्नेहे घनादस्मादनलः ।

अनिष्टोद्भावनरसोत्तरं हि भवति खलहृदयम् । को नामाऽस्य तत्त्व-
निरूपणे समर्थः ?

अबीजादेव जायते, अकाण्डादेव प्ररोहन्ति खलव्यसननाङ्कुराः, दुरुच्छे-
दाश्च भवन्ति ।

अभिनन्दति हि स्नेहकातरापि कुलीनता देशकालानुरूपम् ।

अलीकाभिमानोन्मादकारीणि धनानि ।

अविमृश्यकारिणां हि नियतमनेकाः पतन्त्यनुशयपरम्पराः ।

मद्यसधर्माणो हि मनुष्या नियुक्ताः कर्मसु विकुर्वते ।

असतां हृदि प्रविष्टो दोषलवः करालायते, सतां तु हृदि न प्रविशत्येव ।

अहो प्रभावो महात्मनाम् !

इन्द्रियहरिणहारिणी च सततम् अतिदुरन्तेयम् उपभोगमृगतृष्णिका ।

ऊर्जा मधुमती वाक् ।

गर्भेश्वरत्वम् अभिनवयौवनत्वम् अप्रतिमरूपत्वम् अमानुषशक्तित्वं
चेति महतीयं खल्वनर्थपरम्परा ।

गृहिणः प्रियहिताय दारगुणाः ।

गुणाधिकैर्हि गृहीतोऽनुष्ठीयमानश्च धर्मः प्रचयं गच्छति ।

तृप्तिलाभस्तु न विलिखितो विधात्रा मनुष्यभागधेयेषु ।

देवा हि तरुणजीवनध्वंसनमवलोकयितुं नोत्सहन्ते खलु ।

दुःखदग्धानां च भूतिरमङ्गला चाप्रशस्ता च निरुपयोगा च भवति ।

---

[1] ये सूक्तियाँ इसी प्रकार के पाठों से अकारादि-क्रम से सङ्कलित हैं।

द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च ।
न गुह्यं विवृणुयात् ।
न नक्तं दधि भुञ्जीत ।
न नियमं भिन्द्यात् ।
न पन्थानमवमूत्रयेत् ।
न पापेऽपि पापी स्यात् ।
न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात् ।
न सर्वविश्रम्भी न सर्वाभिशङ्की ।
नानृतं ब्रूयात् ।
नान्यस्त्रियमभिलषेत्, नान्यश्रियम् ।
नान्यस्वमाददीत ।
नास्त्यदाराणामननुगुणदाराणां वा सुखं नाम ।
नोत्सर्गमवरुध्येत ।
पुण्यानि हि नामग्रहणान्यपि महामुनीनाम्, किं पुनर्दर्शनानि ।
पुण्यं हि सात्त्विकं नूनमशक्यमपि साधयेत् ।
प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते ।
प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति ।
प्राक् श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात् ।
प्राणिनां जीवनं जलबुद्बुदस्य भङ्गुरत्वमनुकरोति । अलं चिन्तया मृतस्य ।
प्रायो महाभूतानां दुरभिभवानि भवन्ति तेजांसि ।
ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मः, तदधीनत्वाद्वर्णाश्रमभेदानाम् ।
भगवानमरनाथस्तवाभीष्टं सफलीकुर्यात् ।
मधुमतीं वाचमुदेयम् ।
मनुष्याणां हिंसावृत्तिस्तु निरवधिः ।

महासत्त्वता हि प्रथममवलम्बन लोकस्य पश्चाद्राजबीजिता ।

मानवा नाम सर्वासु सृष्टिधारासु निकृष्टतमा सृष्टि ।

य सर्वथा चिर जीवति वर्षशत जीवति ।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ।

यौवनारम्भे प्राय शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धि ।

विद्वांसमपि धीरमपि अभिजातमपि पुरुषम् इयं दुर्विनीता खलीकरोति लक्ष्मी ।

विधवाना यशसा स्यातुमिच्छामि लोके न वपुषा ।

शश्वदस्यास्यति ते पुण्य । शिवास्ते सन्तु पन्थान ।

श्वापदाना हिंसाकर्म किल प्रकृतिनियमोद्दीप्तजठरानलनिर्वाणमात्र-प्रयोजनकम् ।

सत्यपरिभाविता वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुम् ।

समुद्रोऽस्मि विधर्मण ।

सर्वप्राणिषु बन्धुभूत स्यात् ।

सेयमाकृतिर्न व्यभिचरति शीलम् ।

स्वस्ति अद्य उषसो दोषसश्च ।

स्वाध्यायप्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम् ।